स्वातन्त्र्योत्तर कविता का वैचारिक संघर्ष

(हिन्दी-तेलुगु कविता का एक अध्ययन)

डॉ० वी० कृष्ण
एम. ए., एम. फिल पी-एच. डी.
हिन्दी विभाग
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद–500 046

SVATANTRYOTTAR KAVITA KA VAICHARIK SANGHARSH

By

Dr. V. Krishna

Price : One Hundred Seventy Rupees Only

मूल्य : एक सौ सत्तर रुपया मात्र

पुस्तक : स्वातन्त्र्योत्तर कविता का वैचारिक संघर्ष

लेखक : डॉ० वी कृष्ण

प्रकाशक : अन्नपूर्णा प्रकाशन,
127/1100, डब्लू वन, साकेतनगर,
कानपुर-208 014

मुद्रक : सलोनी प्रिन्टर्स, 334 डी, निरालानगर, कानपुर

संस्करण : प्रथम

प्रकाशन वर्ष : 1996

PUBLISHED BY : Mathura Prasad Tripathi

यह पुस्तक तेलुगु विश्वविद्यालय, हैदराबाद के आर्थिक
सहयोग से प्रकाशित है।
इसमें व्यक्त किये गये विचार लेखक के अपने हैं।

संघर्षरत जनवादी चेतना को

अनुशंसा

भारत की साहित्यिक एकात्मकता को निरूपित करने के उत्तम साधन के रूप में राष्ट्रभाषा हिन्दी के कर्मठ सेवियों ने तुलनात्मक अध्ययन को ग्रहण किया है। 'भारत की विभिन्न भाषा और लिपियों में लिखे गये साहित्य की आत्मा एक है'– पं. सर्वपल्लि राधाकृष्णन की इस सूक्ति को प्रमाणित करने और भावात्मक एकता की सिद्धि में तुलनात्मक अध्ययन का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है और रहेगा। इतना ही नहीं दो भाषाओं के साहित्य में प्राप्त होने वाली समान विचार-धारा के अध्ययन के अलग स्वरूप से जो आनन्द प्राप्त होता है वह शुद्ध साहित्य के अध्ययन द्वारा प्राप्त होने वाला आनन्द है। इन दोनों दृष्टिकोणों से वी. कृष्ण का अध्ययन तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में सराहनीय प्रयास है।

प्रस्तुत अध्ययन में हिन्दी और तेलुगु की आधुनिक कविता की पृष्ठभूमि वैचारिक संघर्ष का तुलनात्मक अनुशीलन किया गया है। हिन्दी हो या तेलुगु आधुनिक साहित्य कतिपय विचारधाराओं से प्रभावित है। इन विचारधाराओं की प्रतिबद्धता उनकी रचनाओं में परिलक्षित होती है। दर्शन शास्त्र में पूर्व पक्ष सिद्धान्त प्रतिपादन और उत्तर पक्ष के समान ही पूर्ववर्ती विचारधाराओं से अनु-प्रेरित साहित्यकार को वर्तमान विचारधाराओं से संघर्ष करना पड़ता है। यह प्रत्येक साहित्यकार के लिए अनिवार्य है कि वह अपने मस्तिष्क में विचार मंथन के बाद अपनी एक दिशा निर्धारित करता है और साहित्य संसार को चिरस्थायी बना रहने वाला अमृत प्रदान करता है। वी. कृष्ण ने कविता तक अपने अध्ययन को सीमित रखा है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी और तेलुगु कविता के क्षेत्र में परि-लक्षित होने वाले वैचारिक संघर्ष का तुलनात्मक अध्ययन बड़ी गहराई के साथ किया है। वैचारिक संघर्ष के साम्य और कविताओं में-वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से प्राप्त समानताओं का अध्ययन रोचक है। इस अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय भाषाओं के स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य में विस्मय में डालने वाली समानताएँ हैं।

केवल द्विभाषिक तुलनात्मक अध्ययन ही नहीं समस्त भारतीय भाषाओं

के साहित्य को काल खण्डों के अनुसार एक इकाई मानकर तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो "भारतीय साहित्य" की परिकल्पना पुष्ट हो सकेगी। इस प्रकार के द्विभाषिक तुलनात्मक अध्ययन के प्रयास स्वागतार्थ हैं। इस दिशा में वी. कृष्ण का यह प्रयास पठनीय एवं मननीय है।

मुझे आशा है हिन्दी के सुधी पाठक और विद्वान इस अध्ययन का स्वागत करेंगे और तुलनात्मक अध्ययन को गति प्रदान करेंगे।

—भीमसेन निर्मल
आचार्य एवं प्राक्तन अध्यक्ष,
एमिरिटस प्रोफेसर,
उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद

पुरोवाक

सन् 1913 में तेलुगु की आधुनिक कविता के प्रवर्तक श्री गुरजाड अप्पाराव ने कहा था– "साहित्य के क्षेत्र में मैं जो कार्य सम्पन्न कर रहा हूँ उससे तुलनीय कार्य भारतीय साहित्य में और कहीं नहीं दिखाई देता।" अन्यत्र उन्होंने कहा है- तेलुगु में नवीन रीतियों और स्तरों की स्थापना करने वाला प्रथम कवि मैं ही हूँ। मेरी काव्य कला नवीन है, काव्य का इतिवृत्त भारतीय है। कविता में मैंने आदर्श और प्रयोजन चाहा है। जीवन को नयी दृष्टि से परखकर कथा अथवा कविता के रूप में उसका समन्वय करने का प्रयत्न किया है।" उनकी ये बातें आधुनिक साहित्य के लिये खासकर आधुनिक कविता के लिए वेदवाक्य सदृश हैं। क्या तेलुगु क्या हिन्दी समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्यों का यही स्वर आधुनिक युग की विशेषता कही जा सकती है। वाल्मीकि का कारुण्य ही शोक और श्लोक में परिवर्तित हो गया था। समाज में विस्तृत मूढ़ाचार, अत्याचार, रुग्णताएँ आदि ने मानव को प्राप्त किया है। इस स्थिति ने आधुनिक कवि हृदय को व्यथित किया है। इसी सम्बन्ध में उसका कारुण्य व्यक्त हुआ है। परिणामतः समाज सुधार की उत्कट अभिलाषा, सभी धर्मों की अच्छाइयों और पूँजीभूत ज्ञान का समीकरण, स्थिरता की आशा, विश्व धर्म और बन्धुत्व की कामना, कभी परिवर्तन के लिये क्रान्ति का आह्वान, अन्याय के प्रति क्रोध आदि आधुनिक परिप्रेक्ष्य में साहित्य के उपजीव्य रह गए हैं। जाति धर्म के सीमित बन्धनों से मुक्त होने का प्रबोध आज की कविता का प्रदेय है। इस दिशा में क्रान्ति का स्वर स्वातंत्र्योत्तर साहित्य का आधार है। यह स्वर बुलन्द हुआ सन् 1900 के आसपास और प्रखर होता ही गया। आशा है, यही स्वर आगे भी बरकरार रहेगा।

हिन्दी और तेलुगु में आधुनिक काल का आरम्भ सन् 1900 से ही माना जा सकता है। इस काल की कविता स्रवन्ती के प्रथम दशक ने तेलुगु और हिन्दी दोनों प्रान्तों में युगान्तरकारी परिवर्तन देखा है। तेलुगु में वीरेशलिंगम पंतुलु एवं गुरजाड अप्पाराव और हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध सरीखे व्यक्तित्व दिशा निर्देशन और प्रवर्तन के नेता रहे हैं। तेलुगु और हिन्दी साहित्यों के विकास क्रम को प्रमुख रूप से, तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से परखने के लिये भी, पाँच उत्थानों में देखा जा सकता है–

प्रथम उत्थान	सन् 1857 से 1910 तक
द्वितीय उत्थान	सन् 1915 से 1935 तक
तृतीय उत्थान	सन् 1935 से 1950 तक
चतुर्थ उत्थान	सन् 1950 से 1975 तक
पंचम उत्थान	सन् 1975 के बाद से वर्तमान तक

इन चरणों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ इस प्रकार रेखाँकित की जा सकती हैं–1) सुधारवादी 2) छायावादी/भाववादी एवं राष्ट्रवादी 3) प्रगतिशील एवं प्रगतिवादी-अभ्युदयवादी 4) संघर्षोन्मुखी एवं 5) जनवादी। इस विभाजन का अर्थ यह नहीं कि अन्य दिशाएँ और प्रवृत्तियाँ नगण्य हैं।

भारतीय साहित्य के विकास में तृतीय एवं चतुर्थ चरण कविता को इति-वृत्तात्मकता एवं परम्परित रचना विधान से मुक्त करके जनोन्मुख करने में सफल हुए हैं। सन् 1935 भारतीय साहित्य के दिशा-परिवर्तन के लिए महत्त्वपूर्ण है। मार्क्सवादी दर्शन ने साहित्य को एक नया मोड़ दिया था। योरोप के प्रसिद्ध उपन्यासकार पास्टर की अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। जिस प्रकार बिखरी हुई क्रान्ति की शक्तियाँ साम्यवाद के पक्ष में एकीकृत हुई थीं उसी प्रकार साहित्य क्षेत्र की प्रगतिशील प्रतिभाएँ संगठित हुईं। हिन्दी प्रान्त में सन् 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेषण सम्पन्न हुआ तो तेलुगु प्रान्त में सन् 1943 में। ऐतिहासिक रूप से प्रसिद्ध इन संगठनात्मक घटनाओं ने दोनों प्रान्तों के ही नहीं समस्त भारतीय क्षितिज को ही प्रभावित किया है। साहित्यकारों के दृष्टिकोण को ही बदल दिया है। इस सदर्भ में देखा जा सकता है कि बीसवीं शती के चौथे दशक से साहित्यकार का दृष्टिकोण ही परिवर्तित हो गया है। जनता के सुख-दुख, सामान्य जनों के हृदयों की धड़कन कविता के लिए इतिवृत्त होने लगे। इस प्रवृत्तिपरक मूलभूत दिशा में विकसित साहित्य ही स्वा-तंत्र्योत्तर साहित्य है। कविता ही इस युग की प्रभावशाली विधा है। चाहे भाषा कोई भी हो, स्वर और तेवर बदले ही मिलते हैं, उनकी दिशा उग्र, क्रान्तिकारी, परिवर्तनापेक्षी और समाजोन्मुखी है।

सन् 1950 के बाद ही कविता प्रगतिशीलता से प्रगतिवादिता का आधार ग्रहण कर अग्रसर होती है। यहाँ से कवियों की रचनाओं में प्रतिबद्धता दृढ़ होती हुई मिलती है। इस प्रतिबद्धता का आधार न तो राजनैतिक आश्रय है और न ही धनार्जन की लिप्सा। इस समय का प्रतिबद्ध कवि सैद्धाँतिक रूप से प्रतिबद्ध है। यह सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता आध्यात्मिक सिद्धान्तों से परे अधिक समाज के पीड़ित ताड़ित वर्गों की उन्नति और विकास से सम्बद्ध दर्शन से अनुप्राणित है। सन् 1960 के बाद भारतीयों का मोह भंग हुआ। तद्रा से जगे भारत ने नया कदम बढ़ाया।

सन् 1967 के नक्सलबाड़ी आन्दोलन ने सातवें दशक के बाद की कविताओं को एक नया और प्रभावशाली स्वर दिया। वस्तु की ओर कवि को खींचकर ले गया। तेलुगु साहित्य में "दिगम्बर कविता" के अवतरण का समय भी यही रहा है। विप्लव (विद्रोह) की कविताओं की धारा ने जन-सामान्य को भी बहुत आकर्षित किया। हिन्दी प्रगतिवादी कविता के समानान्तर में जो अभ्युदय कविता की धारा बही है उसके स्वरूप का विकास दोनों प्रान्तों में ही क्या समस्त भारतीय क्षितिज को प्रभावित किया है।

कविता की नयी दिशा ने उसे सबसे पहले सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होने के लिए प्रेरित किया है। तेलुगु के युग प्रवर्तक और प्रगतिवादी कवि श्री श्री ने यह कहकर युवा पीढ़ी को सचेत किया था –

छन्दों की पाबंदियों को
चट-पट तोड़कर
"Damn it ! यह क्या ?" पूछेंगे तो
"Pray ! it is poetry ! कहेंगे।

और अपनी कविता के बारे में स्पष्ट भी किया–

छन्दों के सर्प परिष्वंगनों को छोड़कर
निघण्टुओं के श्मशानों को लाँघकर
व्याकरण की शृंखलाओं को भेदकर
निकली है मेरी कविता !

तेलुगु "वचन कविता" (Prose verse) के पितामह कुन्दुर्ति आँजनेयुलु ने नयी दिशा में प्रतिबद्ध होकर चलने के लिए अपने आपका अभिनन्दन ही कर लिया है–

मान्य विश्वासों को वेग से कह देने का बल
मान मेरे अस्तित्व का प्रतिफल,
हर बात को नयी बोल देने वाला स्वर
कलम के लिए भाषायोषा वरदान भास्वर
पूर्वापर का विचार छोड़
जोर-शोर से, तीनों लोक सुन सकें,
पंडितों के दोष, प्रकरणों को छोड़ सामान्य की भाषा में
भगवान को भाने वाले भाव प्रतिपादित करते रहने के लिए
अभिनन्दन कर लेता हूँ अपने आपका मैं !

क्रान्ति के समर शंख को प्रेरित करने वाले श्री रंगम नारायण बाबू का स्वर तो और तीखा है–

रक्त-ज्वाला
प्रिय हूँ मैं !
विप्लव ऋषि
विद्रोह का कवि हूँ !
युद्ध क्षेत्र है मेरा
हृदय !
टूटे हुए दिल मेरे गीतों के कमल !

नये युग के नये कवि की आशा है–

डाकू पिशाचों का
नाश होगा, नाश होगा !
यह जमीं सुखी होगी !
यह यज्ञ फलित होगा।
इस पृथ्वी का सुनहला प्रसव
नई फसल धारण करेगा।
नव-जीवन कुसुमित होगा।
यह यज्ञ फलित होगा ! –सोमसुन्दर।

आधुनिक हिन्दी कविता के विकास और दिशा परिवर्तन के सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता ही नहीं है। वह तो इस दिशा में अग्रगामी ही रहा है। कविता free verse meovement के साथ लोकगीत शैली को भी स्वीकार कर जनोन्मुख हुई है। वस्तु की समसामयिकता, समस्याओं के आकलन में सामान्य की पक्षधरता, सुधारवादी प्रवृत्ति, सामाजिक चेतना एवं परिवर्तन के अभाव में संघर्ष और क्रान्ति का आह्वान आदि कविता धर्म ही हो गये हैं। राजनैतिक एवं आर्थिक चेतना के साथ-साथ दुर्बल वर्गों की आह तक पहुँचने की प्रबल चेष्टा आधुनिक कविता का उपजीव्य है। सहज रूप से सामान्य एवं शोषित का पक्षधर कवि मानवता का पुजारी रहा है। उसके लिये कविता आजीविका का साधन नहीं संघर्ष का हथियार बनकर रह गयी है। स्वलाभ और स्वधर्म की भावना से दूर लोक धर्म के साथ जुड़कर कवि चलना चाहता है। नयी जागृति, नई क्रान्ति नया संघर्ष जीवन में और कविता में अवतरित करने का सजग प्रयत्न आधुनिक कविता में है। कवि गरजता है–

मेरे बिना न सूर्य है, न धरती
मेरे बिना न करुणा है, न कविता। (कुन्दुर्ति)

डॉ. वी. कृष्ण का शोध प्रबन्ध "स्वातन्त्र्योत्तर कविता का वैचारिक संघर्ष" आजादी के बाद के तीन दशकों के प्रवेगपूर्ण परिवर्तन का एक मर्मस्पर्शी

चित्र प्रस्तुत करता है। वैचारिक द्वन्द्व और उसके प्रणालीगत भेद भोगे हुए यथार्थ के साथ कविता की प्राणप्रद प्रेरणा के रूप में जिस प्रकार रहे हैं एवं स्वातन्त्र्योत्तर कविता के लिये जो प्रेरणा दे सके हैं उस सबका समुचित विश्लेषण इस शोध प्रबन्ध का प्रतिपाद्य है। दो क्षेत्रों की कविता को लेकर किया गया तुलनात्मक अनुशीलन वैचारिक भूमिका को सुदृढ़ एवं विश्वसनीय बनाने में सहायक ही नहीं अधिक सशक्त भी रहा है। अध्ययन की इस योजना में तीन दशकों के सभी वादों के परिवेश में कविता धारा की विशेषताओं को रेखांकित करने में डॉ. कृष्ण सफल ही हुए हैं। डॉ. कृष्ण मेरे विद्यार्थी भी हैं और सहयोगी प्राध्यापक भी। उनके इस कार्य को मैं साधुवाद देता हूँ। आशा से अधिक विश्वास है कि यह द्वि-क्षेत्रीय एवं द्वि-दिशात्मक कार्य बुधजनों से समादृत होगा। मेरी कामना है कि प्रबुद्ध शोधार्थी से भविष्य में और अच्छे शोध फूल फूलें और फलें।

– वें० वेंकटरमणा राव

आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
हैदराबाद विश्व विद्यालय
हैदराबाद (आन्ध्र) 500 046

दिनांक 20 मार्च, 1996,

प्राक्कथन

स्वातन्त्र्योत्तर कविता की एक अपनी निजी विलक्षणता है, जो स्वातंत्र्योत्तर कालीन जीवन की मुख्य प्रवृत्ति "भोगे हुए यथार्थ" को अभिव्यक्ति देती है। भोगे हुए ऐसे यथार्थ का रूप एक तरफ से इतिहास से और उसके जीवन प्रणाली रूप से जोड़कर स्वातंत्र्योत्तर समय के अन्तर को मुखरित कर देता है। इतिहास और जीवन प्रणाली के रूप की भिन्नता, जीवन के सम्बन्ध के विचार को भी अन्तर करते हुए साफ जाहिर होती है। फलतः वैचारिक द्वंद का और उसके प्रणालीगत भेद भोगे हुए यथार्थ के साथ कविता की प्राणप्रद प्रेरणा के रूप में अभिव्यक्त होना स्वातंत्र्योत्तर कविता के वैचारिक आधार को प्रकाश में लाना ही है। कविता और जीवन के इस निकट सम्बन्ध की भूमिका के रूप में स्वातंत्र्योत्तर कविता का वैचारिक परि-पार्श्व और उसकी अभिव्यक्ति मेरे अध्ययन का आकर्षक बिन्दु बना है। प्रस्तावित इस वैचारिक भूमिका को मैंने एक योजनाबद्ध रूप में विचारबद्ध करने का नम्र प्रयत्न किया है।

इस अध्ययन के अन्तर्गत स्वतन्त्रतापूर्व प्रचलित काव्य प्रवृत्तियों और उनके प्रेरक तत्वों में कार्यरत वैचारिक संघर्ष के स्वरूप को आकलित किया गया है। हिन्दी और तेलुगु काव्य की प्रवृत्तियों की भूमिका में वैचारिक संघर्ष के स्वरूप को उद्भासित किया गया है।

साथ ही स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी और तेलुगु कविता में संघर्ष की दिशा का बोध देने का प्रयत्न किया गया है। कविता के कुहास में और लिबास में बुद्धिजीवियों के कुंठित एवं संत्रस्त अनुभव, राजनैतिक दिशा में उभरने वाली जन-विरोधी नीतियों का विरोध, पश्चिमी सभ्यता की लहर के रूप में उठने वाली व्यक्ति स्वतन्त्रता की खोज में उभरने वाली विडम्बनाओं, सामाजिक परिवर्तन की दिशा में उत्पन्न होने वाले विचारात्मक मतभेदों और अन्य तरह-तरह की विचार प्रणालियाँ और उनके रुझानों (विचारात्मक एवं कलात्मक) के सन्दर्भ में स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी और तेलुगु कविता के तीस साल (1947 ई. से 1977 ई. तक) के उभार का विश्लेषण किया गया है। वैचारिक दिशा और उसकी चेतना के विवेचन में सहयोग देकर नव उन्मेष को उभार और निखार दे सकेगा।

संक्षेप में प्रस्तुत योजना कविता की वैचारिक क्षमता और उसकी सामाजिक शक्ति के रहस्य को उद्घाटित करती है। अंतर्मुखी वैयक्तिक चेतना तथा उसकी बहिर्मुखी ऐतिहासिक कार्यप्रेरणा को आन्दोलन का रूप देने में उसकी उपयोगिता स्पष्ट करती है। और यह आन्दोलन भाषा के रूप में कारगर हो जाता है। अन्ततः कविता एक वैचारिक आन्दोलन का कार्य निभाती है।

अध्ययन रुचि के अनुकूल स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-तेलुगु कविता की जो दिशा मुझे उचित प्रतीत हुई उसी का अनुपालन मैंने किया है। कविता को समाज के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास जरूर किया है। अनावश्यक और जरूरत से अधिक उद्धरणों का प्रयोग नहीं किया है, जहाँ आवश्यक समझा उन्हीं स्थलों पर उद्धरणों का संदर्भोचित प्रयोग किया है, ऐसा मेरा विश्वास है।

परम आदरणीय आचार्य भीमसेन निर्मल जी की उदारता और अमूल्य निर्देशन को शायद ही कभी भुला पाऊँ। उनके प्रति शब्दों द्वारा आभार प्रकट करना मात्र रस्म अदायगी होगी। आन्ध्र विश्वविद्यालय, हिन्दी विभाग के आचार्य एस. वी. माधवराव जी से समय-समय पर जो प्रोत्साहन और मार्गदर्शन मिला है, शब्दों में कहना सम्भव नहीं है। वास्तव में वे मेरे अभिभावक की तरह हैं और इससे अधिक कहने का मुझमें साहस नहीं है। डा. के. लीलावती, कृष्ण मोहन और मेरी सहधर्मचारिणी श्रीमती जुक्की से जो सहयोग मिला अविस्मरणीय है। इनके सहयोग के अभाव में प्रस्तुत अध्ययन का पूर्ण होना कठिन था। अतः मैं इन सबके प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ। तेलुगु विश्वविद्यालय, हैदराबाद ने ने पुस्तक प्रकाशन योजना के अन्तर्गत अनुदान के रूप में आर्थिक सहयोग देकर मुझे अनुग्रहीत किया है। तदर्थ मैं कृतज्ञ हूँ।

अन्त में, मैं उन सभी कवियों और लेखकों का आभारी हूँ, जिनकी कृतियों से इस कार्य में सहायता मिली है।

—वी० कृष्ण

अनुक्रम

1

साहित्य और विचारधारा

१. मानवीय सम्बन्ध चरितार्थ करने के मार्ग

मनुष्य सभ्यता के आरम्भिक दौर में, मनुष्य को मानवेतर शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा। मानवेतर अर्थात् प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध मनुष्य का यह संघर्ष निरुद्देश्य नहीं था वरन् मनुष्य जीवन को अधिक सुखी, सुसम्पन्न और अर्थवान बनाने के उद्देश्य से ही प्रेरित था। लेकिन कालान्तर में उत्पादन प्रक्रिया की जटिलता ने मानवीय सम्बन्धों को संश्लिष्ट बना दिया और जीवन को सुनिश्चित दिशा में चलाने के लिये कुछ नियमों और कायदों की आवश्यकता महसूस होने लगी। इसी आधार पर व्यवस्था का प्रारम्भिक ढाँचा निर्मित हुआ। आरम्भिक अवस्था में मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति बड़ी आसानी से होती थी, लेकिन मनुष्य की उत्पादन क्षमता प्रकारान्तर बढ़ने के साथ ही मनुष्य-समाज भी वर्गों में विभक्त होने लगा। फलतः व्यवस्था में दृढ़ता आने लगी। वर्गीय स्वार्थ उत्पन्न हुए। तार्किकता, व्यवहारिकता तथा वैचारिकता के साथ मानवीय सम्बन्धों को चरितार्थ करने के मार्ग पर रुकावट आ गयी। जिससे उसकी शोषक-उत्पीड़क की पक्षधरता जाहिर हुई। अब चंदचालाक लोगों का सुख और आराम ही उसके सरोकार होकर रह गये। अपार जन संख्या की यातनामय और यंत्रणापूर्ण जिन्दगी के प्रति दमन-चक्र चलाने की कु-प्रथा आरम्भ हुई। मनुष्य ही मनुष्य का शत्रु बन गया। लोगों में शोषण करने की अस्वस्थ संस्कृति उत्पन्न हुई। इस तरह मनुष्य समाज में शोषक और शोषित के बीच एक स्पष्ट विभाजक वर्ग-रेखा खींची गयी जो दोनों के बीच के तनाव व संघर्ष को उद्भासित करती है। "दास युग में दास, सामंत युग में किसान और बन्धक मजदूर और पूंजीवादी समाज में उभरती मजदूरों की जिन्दगी के अमानवीय धरातल के लिये कोई सबूत तलाशने की जरूरत नहीं मालूम पड़ती। गौतम बुद्ध, ईसा, मसीह, मार्टिन लूथर जैसे धर्म प्रवर्तकों और नेताओं की उक्तियों में गरीब लोगों की वास्तविक हालत के अनेक उल्लेख मौजूद हैं किन्तु इनमें से ज्यादातर ने उत्पीड़न से मुक्ति के लिए मानवीय संघर्ष चेतना के

आह्वान की बजाय दूसरी दुनिया में सुख के संधान पर ही जोर देना बेहतर समझा।"[1]

अतः आम आदमी एक तरफ मौलिक आवश्यकताओं को जुटाने में अक्षम ही रहा तो दूसरी तरफ व्यवस्था के उत्पीड़न और दमन के सामने बेबस और असहाय भी बनकर रह गया है। लेकिन यह एक युगान्तकारी घटना ही है कि एक वैज्ञानिक एवं सर्वहारा के जीवन दर्शन के रूप में विश्वमंच पर मार्क्सवाद का आविर्भाव हुआ है तो निश्चित रूप से उत्पीड़ित जनता के लिए राहत मिली और संघर्ष के लिये एक सही दिशा प्राप्त हुई। यह संघर्ष नवीन संवेदनाओं और अनुभवों के साथ संगठनात्मक शक्ति के रूप में विश्व भर के उत्पीड़क ताकतों को ललकारने लगा। अब दुनिया में स्पष्टतः दो ही वर्ग–शोषक और शोषित दिखाई देने लगे। मनुष्य ने सभ्यता के आरम्भिक दौर में अपनी सुरक्षा के लिये मानवेतर शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष किया था किन्तु यह दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि आज वही मनुष्य दूसरों पर अधिकार जमाने के लिये संघर्षरत है। मनुष्य का ज्ञान-विज्ञान जितना विकासोन्मुख है उतना ही संभवतः कुछ अधिक ही विनाशोन्मुख भी है। वस्तुतः आधुनिक वैज्ञानिक युग में मनुष्य का यह संघर्ष और भी तीव्र होता जा रहा है। इस संघर्ष को रेखांकित, निर्धारित और संचालित करने वाली विचारधाराएँ प्रतिष्ठित की गयी हैं। और यह एक दूसरे के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगा चुकी हैं। निस्संकोच यही विचारधाराएँ अनेक शाखाओं तथा प्रशाखाओं में रूपान्तरित हो कर एक दूसरी से टकराती हुई मानव जीवन के यथार्थ की जटिलता को और भी संक्लिष्ट बना रही हैं। अतः हमारा युग वैचारिक संघर्षों का युग है।

२. साहित्यकार के विकल्प

यदि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब हो तो निश्चित रूप से समाज में होने

---

1. Slaves in ancient Society, Serfs and Peasants in medieval, society Wage Slaves in modern society, their miseries have been apparently ineradicable from the conscience of society since the day when economic production reached a level where a man could produce more than his means of subsistence and it became profitable to exploit other men ...... Buddha, Christ and Luther accepted the sufferings of the major part of humanity as part of the necessary lot of life on this world, and called being a whole phantastic other world to rodress the balance, to soothe the suffering and therefore the revolt of torfured men......... Illusion and Reality... .....Caodwell, P. 289

वाले विभिन्न परिवर्तनों व संघर्षों का प्रतिरूप साहित्य में दिखायी देता है। इतिहास इस बात के लिये साक्षी है कि मनुष्य का जीवन हमेशा से "समस्या संकुल रहा है और संकट के क्षण पुराने समय में भी गुजरे हैं।"[1] इनका प्रतिबिम्बन साहित्य में होता आ रहा है। वास्तव में किसी भी युग के साहित्यकार के सामने दो ही विकल्प हो सकते हैं, व्यवस्था की यथास्थिति को स्वीकार करना या उसके प्रति विद्रोह कर नव समाज के निर्माण पर बल देना। इस सम्बन्ध में प्रगतिशील कविता के सार्थक हस्ताक्षर मुक्तिबोध कहते हैं–"काव्य या तो बाह्य जीवन जगत के साथ सामंजस्य में या उसके अनुकूल उपस्थित होता है अथवा उसके साथ द्वन्द्व रूप में प्रस्तुत होता है।"[2]

बेझिझक यह कहा जा सकता है कि मध्यकालीन सामंती व्यवस्था में "सिद्धों, नाथों, संतों और सूफियों ने पुरोहित वर्ग की धार्मिक इजारेदारी और सामाजिक क्षेत्र में ही नहीं, धार्मिक क्षेत्र में भी मनुष्य और मनुष्य की ना-बराबरी पर चोट की। उस युग के रचनाकारों से आज के वैचारिक जांच–पड़ताल के रवैये और शोषण और अत्याचार के मूलभूत कारणों की पहचान की अपेक्षा करना बेमानी है किन्तु उस काल की कविता सामाजिक एवं धार्मिक भेदभाव और विषमता से परेशान मनुष्य की छटपटाहट की शिनाख्त तो देती है।"[3] अतः मध्ययुगीन कविता के संघर्ष के स्वर में और आधुनिक कविता, विशेषकर स्वातन्त्र्योत्तर कविता के संघर्ष के स्वर में मौलिक भिन्नता है। लेकिन अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध 'संघर्ष की निरन्तरता' खोजी जा सकती है।

प्लेखनोव की यह स्थापना इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रतीत होती है कि "किसी भी जन समुदाय का साहित्य वहाँ के लोगों की मानसिकता द्वारा निर्धारित होता है, जो कि स्थितियों से निर्मित होती है और अन्तिम परिणति में उत्पादन शक्तियों और उनके सम्बन्धों पर निर्भर करती है।"[4]

वस्तुतः आधुनिक वैज्ञानिक परिवेश में जब कि प्रत्येक चीज विचारधारा के धरातल पर ही मूल्यांकित की जा रही है, सामाजिक आत्मिक जीवन के लिए विचारधारा की पक्षधरता एक अनिवार्य घटक है। सही साहित्यकार विचारधारा से परे होकर नहीं जी सकता है। उनकी रचनाओं में बाहरी दुनिया के संघर्षों को लक्षित किया जा सकता है। हालांकि यह बात सही है कि इन संघर्षों को एक

---

1. विस्तार के लिये–समकालीन सिद्धांत और साहित्य–विश्वम्भरनाथ उपाध्याय पृ. 21–22
2. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध–पृ. 8
3. कविता और संघर्ष चेतना : डा. यश गुलाटी–पृ. 15
4. वही, पृ. 12 पर उद्धृत

सुनिश्चित एवं सुसंबद्ध विचार प्रणाली के आवरण में साहित्यकार भले ही व्यक्त नहीं करता हो, लेकिन वह किसी–न–किसी रूप में कोई न कोई विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता ही है और साहित्य तथा समाज के जीवित संदर्भों को रूपायित करता है।

३. विचारधारा की अनिवार्यता

विचारधारा के महत्व और अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है–"किसी भी कलाकृति में लेखक की जीवन दृष्टि अवश्य प्रकट होती है। भले ही लेखक जाने या न जाने, उसी जीवन दृष्टि के भीतर और उसके आस-पास जीवन जगत् सम्बन्धी तरह-तरह का धारणायें और विचार होते हैं। यह भी एक तरह की विचारधारा ही है, जिसे हम पूर्णतः सुसंबद्ध सुसंगत वैचारिक व्यवस्था भले ही न कहें।"[1] अतः साहित्य का "वैचारिक पहलू कलात्मक सृजन का एक महत्वपूर्ण तथा आवश्यक घटक है।"[2]

कविता जबकि समाज के सब से अधिक संवेदनशील व्यक्ति की चेतन-क्रिया है तो समाज से उसका सम्बन्ध अविच्छिन्न है। इसी वजय से कविता में विचारधारा का होना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी है। क्योंकि कविता अन्य कलाओं की भाँति विचारधाराओं के संघर्ष में, हमारे युग के वैचारिक टकरावों में, विश्व दृष्टिकोणों के घात-प्रतिघात में सक्रिय भाग लेती है। हमारे युग के लिए कविता की मात्र लाक्षणिक विशेषता ही नहीं बल्कि यह उसका महत्वपूर्ण एवं निर्माणात्मक प्रकार्य भी है जो निस्सन्देह सामाजिक तथा सृजनात्मक प्रक्रिया के विभिन्न चरणों में विभिन्न रूप ग्रहण करता है।

बहराल परिस्थिति, परिवेश, सभ्यता एवं संस्कृति के बदलाव के साथ-साथ चेतना का रागात्मक संसार भी बदलता रहता है। परिस्थिति और परिवेश के बदलने से मनुष्य की रुचियाँ, अभिरुचियाँ, बदलती रहती हैं। इस रुचि परिवर्तन में ही कविता के साँचों का परिवर्तन छिपा रहता है। और काव्यात्मकता के नये-नये आन्दोलन उभरते हैं। फलतः पुराने और नये मूल्यों के बीच टकराव अनिवार्य हो जाता है। यह स्पष्ट है कि इस टकराव के नेतृत्व में वर्ग भावनाएँ ही रहती हैं।

इस बदलते हुए परिवेश में विभिन्न विचार प्रणालियों के बीच एक नया दार्शनिक शब्द "आधुनिकता" का आविष्कार हुआ। साहित्य के अन्तर्गत इसे दो रूपों में परिभाषित किया गया है। पहले में, समकालीनता को चाहे वह परम्परागत

---

1. मुक्तिबोध रचनावली–भाग–5–पृ. 321
2. कला के वैचारिक और सौंदर्यात्मक पहलू–आब्नेर जीस–पृ. 7

हो अथवा नवीनतम "आधुनिकता" की संज्ञा दी गयी है। दूसरे में, बदलते हुए आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर निर्मित दृष्टिकोण व स्वरूप को "आधुनिकता" कहा गया है। इसके अन्तर्गत ऐसे नये मूल्य एवं लक्षण पाये जाते हैं जो लौकिक, समाज हितैषी तथा यथार्थ भावनाओं से गुंथे रहते हैं। इसके विपरीत पहले में आध्यात्मिक, धार्मिक तथा व्यक्तिवादी भावनाओं को पुट देने वाला आदर्श सम्मिलित है। पहला भावात्मक आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है तो दूसरा यथार्थ का।"[1]

वास्तव में आधुनिक वह नहीं है जो वर्तमान में जीता है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति आधुनिक ही कहा जायेगा। आधुनिक वह है जो वर्तमान सामाजिक यथार्थों से साक्षात्कार करते हुए जीता हो।[2]

इसी संदर्भ में एक और बात उल्लेखनीय है। कुछ साहित्यकारों को अक्सर यह कहते हुए सुनते हैं कि वे किसी प्रकार की राजनीति से नहीं जुड़े हुए हैं न किसी प्रकार की विचारधारा से प्रभावित। और यहाँ तक कह देते हैं कि विचारधारा के आवरण में व्यक्ति की सृजनात्मक प्रतिभा कुंठित हो जाती है। वास्तव में, वे वस्तु जगत से आक्रांत होकर अहं की सर्वतन्त्र सत्ता की रक्षा का आग्रह करते हैं। और आश्चर्य की बात यह है कि यथार्थ दर्शन को सिर्फ कुंठा उत्पन्न करने वाला दर्शन के रूप में घोषित करते हैं।[3] ये वे लोग हैं जो कला और साहित्य की स्वा-

---

1. आधुनिक तेलुगु साहित्यम लो विभिन्न छोरणुलु–के. के. रंगनाथा चार्युलु का सम्पादकीय लेख

2. The modern man is newly formed human being, a modern problem is a question which has just arisen and whose answer lies in the Future .....it must be clearly understood that the mere fact of living in the present does not make a man modern, in the case every one at present a live would be so. He along is modern who is fully concious of present.–Modern man is search of soul–C. G. Jung

   Quoted : Swatantrottar Hindi Kavita : Ananth Mishra P. 48-49

3. "वर्ग-उपवर्ग विभेद के कारण 'कस्मै देवाय.. ..." का उत्तर जटिल हो गया है और सम्प्रेषण की समस्या प्रमुख बन गयी है, इसलिये नये प्रयोगों की जरूरत है। भाषा का अर्थ संकुचन "व्यापक-सत्य" के लिये एक समस्या बन गया है; अतः उसे "व्यक्ति सत्य" को "व्यापक-सत्य" बनाने का उत्तरदायित्व पूरा करना है। संकट और भी है, जैसे व्यक्तिगत चेतना भी लदी हुई है। यथार्थ दर्शन सिर्फ कुंठा उत्पन्न करता है।–तारसप्तक, चतुर्थ संस्करण में अज्ञेय का वक्तव्य।

यत्तता का नारा देकर समाज की विविध जटिलताओं और व्यवस्था के मूलभूत अन्तर्विरोधों से जनता का ध्यान हटा कर ऐसे अजनबी संसार में भटका देने का प्रयत्न करते हैं ताकि जनता सामाजिक संघर्ष के जीवित संदर्भ से बिलकुल कट जाय। ऐसी मानसिकता के पीछे वास्तव में वही दृष्टिकोण सक्रिय रहता है जो "कला को माल बना डालता है और विशाल पैमाने पर उस मास कल्चर की चीजों को जन्म देता है, जो मनुष्य को बुनियादी सामाजिक समस्याओं से, मानव अस्तित्व के बुनियादी प्रश्नों के समाधान से विमुख करता है।"[1] अतः कलावादी और स्वायत्त संसार की धारणाओं को स्वीकार नहीं किया जा सकता और इस सन्दर्भ में मार्क्सवादी विश्लेषण उचित प्रतीत होता है–"इस तरह का तर्क श्रम से विच्छिन्नता का नतीजा है जिसकी वजह से आदमी अपनी निजी सत्ता और दूसरे आदमियों से आदमी की विच्छिन्नता के अलावा, विभिन्न ज्ञान–विधानों और कला–रूपों की निरपेक्ष स्वायत्तता की मिथ्या अवधारणा की गिरफ्त में आ गया है।"[2]

कहने का सारांश यह है कि वर्तमान सामाजिक संरचना में प्रत्येक क्षेत्र में विचारधारा का महत्व है। पर सवाल यह है कि साहित्य में विशेष कर कविता में उसकी अभिव्यक्ति किस प्रकार हो। इस सन्दर्भ में एंगेल्स का यह कथन स्मरणीय है–"लेखक के विचार जितने अप्रत्यक्ष रूप में आयेंगे, कलाकृति के लिए उतनी ही अच्छी बात होगी।"[3] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी कविता के लिये विचार अनिवार्य ही नहीं, बल्कि विचार की महानता, गहराई, ऊँचाई एवं व्यापकता का आग्रह किया है। उन्होंने लिखा है–"कितने गहरे, ऊँचे और व्यापक विचारों के साथ हमारे किसी भाव या मनोविकार का संयोग कराया जा सका है, कितने भव्य और विशाल तथ्यों तक हमारा हृदय पहुँचाया जा सका है, उसका विचार भी कवियों की उच्चता स्थिर करने में बराबर करना पड़ेगा।"[4] अर्थात् विचार शून्य कविता स्थायी कविता न होकर विलास हो जाती है। विश्व के सभी प्रमुख कवियों ने अपनी सृजनात्मक प्रतिभा व रचनाओं के माध्यम से कुछ-न-कुछ विचार अवश्य दिये हैं।

वास्तव में कविता और विचार में अन्तर भीतरी नहीं मात्र ऊपरी है। वे दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। विचारधारा कविता की प्राणतत्व क्रिया है। आधुनिक युग में सामाजिक आत्मिक जीवन के लिये, संघर्ष के स्वरूप के निर्धारण के लिये साहित्य में स्वस्थ मूल्यों को स्थापित करने वाली विचारधारा की सख्त जरूरत है। जो लोग विचारधाराओं की सीमाओं से मुक्त होने की बात करते हैं

---

1. कला के वैचारिक और सौन्दर्यात्मक पहलू : पृ. 33
2. आलोचना की रचना यात्रा : धनंजय वर्मा–पृ. 46
3. कला और साहित्य : मार्क्स एवं एंगल्स–पृ. 37
4. चिंतामणि भाग–2, पृ. 152

वह विचारधारा की सीमाएं न होकर वास्तव में उनकी अपनी सीमाएं मात्र हैं।

निष्कर्षतः उपर्युक्त विश्लेषण से कविता के वैचारिक आयाम के सम्बन्ध और साहित्यकार के विकल्पों के रूप में उसकी महत्ता स्पष्ट हो जाती है।

आधुनिक संस्कृति के आविष्कार से उत्पन्न विभिन्न परिणामों ने साहित्यकार के सामने अनेक नयी-नयी आवश्यकताओं का और उसके जीवन दर्शन का साक्षात्कार कराया। ऐसी स्थिति में संगठन और विचारधारा के दोनों रूपों के आपसी सम्बन्धों को चरितार्थ करने के प्रश्न खड़े किये। एक नयी संघर्ष चेतना को, पुरानी दुनिया के सुख संधान की बात को ठुकरा देने में भगावा दिया। साहित्यकार की भूमिका के निर्माण में कौन-सा प्रकार्य लिया जाय और कौन-सा आदर्श आविष्कार का काम करें और उसके कलात्मक सृजन के घटक के रूप में कौन-सा पहलू काम दें ? कौन-सा नेतृत्व समाज के लिये उपयोगी होगा और किन स्वस्थ मूल्यों के निर्माण में किस विचारधारा का आश्रय लिया जाय ? ऐसे विभिन्न विकल्पों पर आधारित विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व या जीवन सन्दर्भों को अनिवार्य बनाने वाली तार्किकता, व्यावहारिकता के प्रसंग आधुनिक साहित्यकार के सामने विकल्प बने हुये हैं।

अतः इन दोनों सूत्रों पर आधारित स्वातन्त्र्योत्तर कविता का वैचारिक आयाम कुछ क्लिष्ट और गहरा है। जिसमें विभिन्न विचारों के सृजन घटकों, आदर्शों, व्यवस्थात्मक संघर्षों, मानसिक परिणतियों, जीवन सन्दर्भों, अनिवार्यताओं, नेतृत्वपूर्ण टकरावों और तरह-तरह की विचारधाराओं के प्रकार्यकों की पहचान लगी हुई रचनात्मक चेतना और उसके मूल्य निर्माण प्रक्रिया को भारत के एक व्यापक परिवेश में पहचानने का प्रयत्न ही प्रस्तुत अध्ययन का संकल्प है। हिन्दी और तेलुगु की स्वातन्त्र्योत्तर कविता के व्यापक परिवेश में कविता के वैचारिक आयाम की खोज सम्पन्न की जाती है। कविता का वैचारिक आयाम यह स्पष्ट कर देता है कि वह मानवीय सम्बन्धों को चरितार्थ करने के मार्ग में प्रकार्यात्मक संघर्ष रूपों एवं अन्य व्यावहारिक रूपों को व्यवस्थित कर मानव के संगठन को विचार सम्पन्न बनाने का एक उत्तम माध्यम एवं प्रबोधात्मक साधन भी है।

2

स्वतन्त्रतापूर्व आधुनिक हिन्दी-तेलुगु कविता

हिन्दो काव्य परम्परा की ऐतिहासिक यात्रा : कविता के मोड़ और उनके वैचारिक बिन्दु

यह एक स्थापित सत्य है कि मध्यकालीन साहित्य में काव्य का ही वर्चस्व था। लेकिन प्रवृत्ति की दृष्टि से वीरगाथाकाल से लेकर रीतिकाल तक के समस्त साहित्य में अपवाद के रूप में कबीर जैसे महान् संतों को छोड़कर, राजाओं की स्तुति और यशोगान का ही वर्णन पाया जाता है। लोक चेतना का अभाव इस लम्बी साहित्यिक परम्परा में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। जीवन संघर्षों के वास्तविक अनुभवों के साथ सीधे साक्षात्कार के द्वारा कवि हृदय में व्यंजित होने वाला स्वानुभव तथा आग्रह मुक्त चिंतन का अभाव इनके रचना संसार में परिलक्षित है।

वैचारिक संघर्ष के सन्दर्भ बिन्दु

वास्तव में पहली बार लोक चेतना का प्रादुर्भाव आधुनिक काव्यधारा में ही हुआ है। मध्यकालीन धर्म भावना की जगह लोक भावना की प्रतिष्ठा हुई। अज्ञेय के शब्दों में–"हिन्दी काव्य की परम्परा में उस समय तक धर्म भावना प्रधान रही। मुस्लिम युग में जितने साहित्यिक आन्दोलन और उत्थान हुए सबकी मूल प्रेरणा धार्मिक ही रही। उन्नीसवीं शती में जिस साहित्यिक उन्मेष का आरम्भ हुआ, वहीं पहले-पहल इसका अपवाद हुआ। उसकी मूल प्रेरणाएं धार्मिक न होकर लौकिक रहीं और उनमें व्याप्त लोकचेतना न केवल बनी रही वरन् क्रमशः और स्पष्ट और व्यापक होती गई।"[1] यह लौकिकता निश्चित रूप से उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। साथ ही पुराने और नये मूल्यों के बीच सीधे संघर्ष का बीजारोपण हुआ। इसका स्थापन हिन्दी में भारतेन्दु की अनेक रचनाओं में हुआ है। फिर भी मध्यकालीन संस्कारों व प्रतिमानों का परित्याग न करने के कारण इनकी स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं हो पायी है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम भारतेन्दु ने ही साहित्य में युग की प्रत्यक्ष तस्वीर खींचने का सफल प्रयास किया है। उनके साहित्य की

1. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य–अज्ञेय–पृ. 44–45

आधार भूमि मध्यकालीन ईश्वरीय चिन्तन तथा सामंतीय विचारधारा से मुक्त नहीं हुई लेकिन द्विवेदी युग के कवियों ने साहित्य को जीवन के नवीन सन्दर्भों से जोड़ने का प्रयत्न किया है। पहली बार देश की पराधीनता के मूल कारणों को पहचानते हुए समाधान ढूँढ़ने की चेष्टा की। फिर भी अपने मध्यकालीन प्रतिमानों तथा संस्कारों से वे भी पृथक नहीं हो पाये। द्विवेदी युग के अन्तर्गत महावीर प्रसाद द्विवेदी, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय तथा पं. लोचन प्रसाद पाण्डेय जैसे कवियों ने जहाँ प्राचीनता के प्रति अपनी अन्ध श्रद्धा की श्रद्धांजली चढ़ाई वहीं राय देवीप्रसाद "पूर्ण", नाथूराम शर्मा, गया प्रसाद शुक्ल, रामनरेश त्रिपाठी जैसे कवियों ने मनुष्य की निर्धनता और मुक्ति को रचना के केन्द्र में रखा है और पुरातन जर्जर सपनों से अपने साहित्य को श्रृंगार करने से बचा लिया है।

द्विवेदी युग की कविता में पौराणिकता एवं मध्ययुगीन मूल्यों के साथ-साथ गांधीवाद, मानवतावाद तथा राष्ट्रीय चेतना आदि भावनाओं से निरत मौलिक प्रवृत्तियां पायी जाती हैं। ये मौलिक प्रवृत्तियाँ ही इस समय के सामाजिक आत्मिक जीवन के सृजन में प्रमुख भूमिका अदा करती हैं और समकालीन चेतना तथा संघर्ष को प्रमाणित करती हैं।

छायावादी कविता : संघर्ष की समग्रता का लोप और दबे हुए स्वर की स्वीकृति

सन् 1918 तक की अवधि में समाजनिष्ठ कविता की प्रतिक्रिया में उपजी हुई व्यक्तिवादी स्वच्छन्द कविता को ही आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में "छायावादी कविता" की संज्ञा दी गयी जो अंग्रेजी की रोमेंण्टिक काव्यधारा से एक हदतक प्रभावित है और जिसमें बंगला साहित्य की मृदुलता एवं मधुरता भी प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। अधिकांश छायावादी कवियों ने भावात्मक आदर्श को स्थापित करते हुए प्रकृति प्रेम तथा रहस्य का आवेगमय तरल काव्य रूपों को ही प्रस्तुत किया है। निराला, पंत जैसे एकाध कवियों ने छायावाद के घेरे से बाहर निकल कर सामाजिक जीवन व यथार्थों से अपने काव्य को जोड़ने का प्रयास तो अवश्य किया है। बच्चन, रामकुमार वर्मा जैसे कवि भी इसी युग में हुए हैं जिनकी रचनाओं के केन्द्र में सामाजिक विषमताएँ तथा पीड़ित जनता की करुण पुकार है।

छायावादी कविता के सम्बन्ध में आलोचकों का यह मानना है कि आधुनिक युग की दुखमय स्थिति ने ही उसे करुण और वेदना मय बना दिया है। इसी के साथ छायावादी कवियों की "वीणा के तार" टूटे और अस्तव्यस्त हुए; उनके हृदय के "क्रन्दन", नेत्रों में "तप्त अश्रु" तथा मानस में "सूनापन" छा गया है। लेकिन तद्युगीन परिवेश पर रोशनी डालने से निश्चित रूप से यह पायेंगे कि छायावाद

का कवि अनेक कोणों से तत्कालीन व संघर्ष को समग्र रूप से समझ नहीं पाया है इसके विपरीत "आशा और निराशा, नूतन और पुरातन के बीच जो तीव्र संघर्ष हो रहा था, उसने उसकी अनुभूति को गहरे विषाद और मर्मान्तिक वेदना से रंगकर करुण बना दिया है।"[1] वास्तव में जीवन और जगत् के प्रति छायावादी कवियों का दृष्टिकोण अन्तर्मुखी था। अन्यथा क्या कारण है कि एक तरफ अंग्रेजों के दमन चक्र–शोषण तन्त्र और अत्याचारों के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन चलाया जा रहा था प्रताड़ित जनता मुक्ति की राह तलाश रही थी तो दूसरी तरफ उसी जनता के प्रति छायावादी कवि दबे हुये स्वर में करुणा एवं संवेदना को व्यक्त कर रहे थे।

सारांशत: छायावादी कवियों में समकालीन समस्याओं को साक्षात्कार करने का साहस नहीं है। उनकी प्रधान चेतना तो कल्पना तथा रेशमी संसार के स्वप्न लोक में ही रमण करती रही।

प्रगतिवादी कविता : आश्रय : धरती या स्वप्न ?

छायावादी कविता की अतिशय कल्पना, पलायन, अस्पष्टता, स्वप्न प्रियता तथा सौन्दर्यवादिता के विरोध में जीवन की वास्तविकता की व्याख्या के आधार पर जिस कविता का सूत्रपात हुआ है उसे "प्रगतिवादी कविता" कहा गया है जिसकी अभिव्यक्ति के मूल में भावात्मक की अपेक्षा बौद्धिक आलोचनात्मक अधिक है जो कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के मूल तत्वों की पुष्टि करता है। इस काव्यधारा में छायावादी काल्पनिक व अंतर्मुखी दृष्टिकोण के विरोध में नवीन यथार्थपरक दृष्टिकोण उपलब्ध होता है। हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद के प्रारम्भ होने के ऐतिहासिक कारण प्रस्तुत करते हुए "रूपाभ" के सम्पादकीय में कवि पंत ने लिखा है–"इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र रूप धारण कर लिया है इससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्न जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री धारण करने के लिये कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।"[2]

प्रगतिवादी कविता के मूल में विद्रोह की भावना ही सक्रिय है। यह दो रूपों में अभिव्यक्त हुई है। एक तो पराधीनता, शोषण और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष एवं क्रान्ति की स्थापना की कामना के रूप में और दूसरे क्षोभ की उस मानसिक

---

1. साहित्यानुशीलन : शिवदान सिंह चौहान–पृ. 66
2. रूपाभ–वर्ष 1, संख्या 1, 1938–पंत

स्थिति की अभिव्यक्ति में जिसने ईश्वर के विरुद्ध विद्रोह की प्रेरणा दी। क्रांति की पुकार का सीधा सम्बन्ध स्वाधीनता की आकांक्षा से था। इनके क्रांतिकारी गीत सामाजिक और राष्ट्रीय स्वाधीनता की महत्वाकांक्षा से ओत-प्रोत रहे। लेकिन धीरे-धीरे प्रगतिवादी कविता का भी विरोध होने लगा। प्रगतिवादी कविता के प्रति यह आरोप लगाया गया था कि "प्रगतिवादी काव्यधारा साहित्यिक मूल्यों से न आकर सीधा राजनीतिक मूल्यों के मार्ग से व्यक्त हो रही थी। समाज और जीवन से सम्बन्धित यथार्थ कलात्मक चित्रण की जगह सिद्धांत प्रचार तथा नारेबाजी का चित्रण होता था। जीवन की वास्तविक निराशा और पीड़ा के चित्रण के बदले आधारहीन आशाओं और संवेदनाओं की अभिव्यक्ति हो रही थी। इसके बुनियादी तत्व पूर्णतः विदेशी हैं जो भारतीय आत्मा को पहचानने में अक्षम हैं। कविता की भाषा सृजनशीलता के अभाव में भाषणबाजी की भाषा हो रही थी।" रामविलास शर्मा जो प्रगतिवादी आन्दोलन के प्रमुख कवि हैं, ने इस प्रकार के संकीर्णतावादी रुझानों का उल्लेख करते हुए लिखा है—"इन रुझानों का एक पक्ष यह था कि कला की अवहेलना करके केवल सामाजिक विषयवस्तु पर बल दिया जाय। सिद्धान्त के अलावा व्यवहार में बहुत-सी प्रगतिशील कविताएँ ऐसी लिखी जाती थीं जिनमें चीत्कार-फुत्कार के अलावा न यथार्थवादी चित्रण होता था न कलात्मक सौन्दर्य।"[1]

अन्ततः प्रगतिवादी कवियों ने सामाजिक विषमता, पराधीनता और शोषण के प्रति अपना तीव्र आक्रोश तो अवश्य प्रकट किया है लेकिन बहुत शीघ्र ही उसके विरोध में तीव्र प्रतिक्रियाएँ व्यक्त होने लगीं। इन्हीं प्रतिक्रियाओं के परिणाम के रूप में प्रयोगवादी कविता का उदय हुआ।

प्रयोगवादी कविता : रूपगत विदेशी संस्कार या जीवन दर्शनों के टकराव

प्रगतिवादी कविता के साथ ही स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का एक नया रूप सामने आता है जो "प्रयोगवाद" के नाम से जाना जाता है जिसकी अभिव्यक्ति के मूल में फ्रायडीय मनोविज्ञान की उपलब्धियाँ और यूरोपीय प्रतीकवाद की प्रेरणा है जो कवि के अन्तरजगत को स्वप्न मण्डित कर रूपरंग की अभिनव सृष्टि के लिये सजग अभिव्यक्ति के रूप में प्रयोगशील बनती हैं।

वैसे तो "प्रयोगवाद की चर्चा "तार–सप्तक" (1943) से शुरू हुई, "प्रतीक" पत्रिका (जुलाई–1947–52) से उसे बल मिला और "दूसरा सप्तक" कविता संग्रह (1951) से उसकी स्थापना हुई।"[2]

1. नयी कविता और अस्तित्ववाद–श्री रामविलास शर्मा–पृ. 29
2. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ : नामवर सिंह–पृ. 121

प्रयोगवादी कवियों में विचार भेट स्पष्ट है। प्रयोगवादी कविता के अन्तर्गत ऐसे कवि सम्मिलित हुए हैं जो विचारधारा के धरातल पर परस्पर टकराते हैं। भिन्न-भिन्न जीवन-दर्शन उनकी कविताओं में परिलक्षित होते हैं। यदि एक ओर प्रयोगवादी कवियों में सामाजिक यथार्थ और समष्टि चेतना के प्रति आग्रह मिलता है तो दूसरी ओर व्यक्तिमत्ता पर विश्वास रखकर विद्रोह का स्वर भी ऊँचा किया गया है। पहली बार प्रयोगवादी कविता में रूपगत प्रयोगों तथा शिल्पगत नवीनता को विशेष प्रेरणा मिली है। इसका परिणाम यह निकला कि हिन्दी कविता ने विदेशी सभ्यता व संस्कारों के निकट पहुँचने की कोशिश की है। जबकि प्रयोगवादी पूर्व कविता बहुत हद तक देशी संस्कारों से रंगी हुई थी। फिर भी प्रयोगवादी कविता-आन्दोलन भी अधिक समय तक नहीं टिक सका। जिस प्रकार बिना कोई भीतरी लगाव के प्रगतिवादी कविता आन्दोलन के दौरान स्वच्छन्तावादी प्रवृत्ति को बढ़ावा देने वाला वर्ग सक्रिय था, ठीक उसी प्रकार प्रयोगवादी कविता के अन्दर भी एक वर्ग पनपा जो अन्तर्मुखी व्यक्तिवाद में बँधी हुई मध्यवर्गीय चेतना को बढ़ावा देता था। जो प्रकारांतर में "नयी कविता" के रूप में उदित हुआ है। नयी कविता आन्दोलन जो आजादी से पहले और आजादी के कुछ वर्षों तक प्रवाहित होने वाली सशक्त मध्यवर्गीय मानसिक चेतना की कविता है, आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में महत्वपूर्ण मोड़ है।

२. तेलुगु काव्य-परम्परा की ऐतिहासिक यात्रा : कविता के मोड़ और उनके वैचारिक बिन्दु

प्राचीन तेलुगु साहित्य राजाओं की देखरेख में पल्लवित एवं पुष्पित हुआ था। पूरी तरह से राज–सभाओं एवं नृत्यशालाओं से ही बँधा हुआ था। जनता के दुख-दर्द का चित्रण न होकर राजाओं के पराक्रम एवं उनके विलासमय जीवन का वर्णन ही काव्य का विषय बन गया था। प्रबन्ध युग में भी राजाओं द्वारा किये गये युद्धों का कीर्तिगान करना ही कवि अपना कर्त्तव्य समझता था। प्रबन्ध–साहित्य में भक्ति का ही प्राबल्य है। वेमना जैसे सन्त पुरुष की रचनाओं को छोड़ कर निश्चित रूप से लोक-चेतना का अभाव समस्त रचनाओं में पाया जाता है।

यद्यपि विरेशलिंगम पंतुलु के सुधारवादी आन्दोलन से तेलुगु साहित्य के इतिहास में एक नया उन्मेष फैला तो अवश्य है लेकिन काव्य में उनके शिल्पगत, प्रयोगों के कारण तत्कालीन साहित्य जनता के समीप नहीं पहुँच सका। गुरजाड अप्पाराव के आगमन से तेलुगु कविता की अभिव्यक्ति के मूल में आमूल परिवर्तन हुआ। साहित्य में लोक चेतना की भावना गति पकड़ने लगी। अब साहित्य क्रमशः जनता के निकट पहुँचने लगा। तेलुगु साहित्य में पहली बार अनेक मौलिक एवं नये प्रयोगों के निरूपण का श्रेय गुरजाड को ही जाता है। कथ्य और शिल्प के स्तर

पर नये रूप प्रयोगों तथा शिल्पगत नवीनता के लिये द्वार खुल गये। गुरजाड अपने समय से भी बहुत आगे थे। तेलुगु साहित्य जगत् में उन्होंने वास्तविकता के आधार पर एक स्वस्थ परम्परा को जन्म दिया है।

इस युग के काव्य संसार में साधारण जनता के यथार्थ चित्रण का प्राबल्य है। जन अनुभूतियों को वाणी देने वाले अनेक कवि हुए हैं। गुरजाड युगीन कवि देश की असह्य् दुर्दशा के प्रति खीझ उठे। फिर भी एक तरफ बसवराजु अप्पाराव, कवि कोंडल वेंकटराव जैसे कवि सामाजिक आवश्यकताओं को पहचानते हुए पराधीनता से उत्पीड़ित भारतीय जन-मानस को सान्त्वना दे रहे थे तो दूसरी तरफ तिरुपति वेंकट कवुलु, रायप्रोलु सुब्बाराव जैसे कवि भी उपलब्ध हैं जो परम्परागत, अतीतोन्मुखी एवं रोमैण्टिक प्रवृत्तियों को बढ़ावा दे रहे थे।

वैचारिक संघर्ष के सन्दर्भ बिन्दु

निश्चित रूप से आधुनिक तेलुगु साहित्य के इतिहास में गुरुजाड अप्पाराव का युग एक संघर्षशील एवं परिवर्तनशील युग है जिसमें स्पष्टतः आधुनिक एवं पुरातन मूल्यों के बीच टकराव निहित है। जो आगे चलकर कविता के आत्मिक जीवन के लिये एक ठोस सामाजिक आधार प्रदान करता है।

भाव कविता : स्वानुभव/भावात्मक आदर्शों के प्रतिष्ठान में टकराव

आधुनिक तेलुगु साहित्य के इतिहास में सन् 1910 से 1940 तक की अवधि के बीच गुरजाड अप्पाराव युग की कविता की तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में जो अविच्छिन्न स्वच्छन्द काव्यधारा प्रवाहित है उसे "भाव कविता" की संज्ञा दी गयी है जिसका अभिव्यक्ति के मूल में अंग्रेजी के रोमैण्टिक काव्य की विभिन्न स्वच्छन्द प्रवृत्तियाँ, स्वप्न एवं सौंदर्यप्रियता तथा अतीतोन्मुखी संस्कार ही सक्रिय हैं। रायप्रोलु सुब्बाराव, अब्बूरी रामकृष्णराव, देवुलपल्लिकृष्ण शास्त्री, विश्वनाथ सत्यनारायण, नायनी सुब्बाराव, दब्बूरी रामिरेड्डी, शिवशंकर शास्त्री आदि कवि भाव कवियों के रूप में प्रसिद्ध हैं। इन कवियों पर अंग्रेजी कवियों का विशेष कर वर्ड्सवर्थ, कालरिज, कीट्स, बैरन, शेल्ली, स्काट आदि का तथा बंगला साहित्य, अद्वैतवाद, वैष्णवभक्ति सम्प्रदाय का प्रभाव है। इसके अतिरिक्त तद्युगीन विभिन्न सामाजिक सुधारवादी ताकतों से भाव कवि प्रभावित है। इसलिए भाव कविता के अन्तर्गत प्रेम, देश भक्ति, प्रकृति, सामाजिक सुधार, भक्ति तथा स्मृति जैसी प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं।

भाव कविता के आविर्भाव के सम्बन्ध में आलोचकों का यह मत 'न तो भाव कविता वस्तु जगत् के परिवर्तन से व सामाजिक उत्पादक शक्तियों के सम्बन्धों के बदलाव से अथवा सामाजिक बुनियादों पर आधारित आर्थिक, राजनीतिक कारकों से ही प्रारम्भ हुई है बल्कि वह लेखकों के अन्तरजगत् में उत्पन्न आनन्द,

विषाद, संयोग, वियोग, क्षोभ आदि भाव तरंगों के जीवन के यथार्थ सन्दर्भों के टकराव से प्रतिष्ठित हुई है।"[1] सही प्रतीत होता है। भाव कवि स्वेच्छाविहारी है। सामाजिक नियन्त्रण के नियम उनकी स्वच्छन्द विहार यात्रा में बाधाएँ उत्पन्न करती हैं। वास्तव में आत्मानन्द की प्राप्ति ही भाव कबि का सर्वोत्तम लक्ष्य है। प्रेम पथ पर बढ़ने का अपना दृढ़ संकल्प घोषित करते हुए उन्हें संकोच का अनुभव भी नहीं होता बल्कि कवि कहता है कि "नविव पोदुरु गाक नाकेटि सिग्गु ना इच्छये गाक नाकेटि वेरपु अर्थात लोग हँसेंगे तो हँसने दो मैं लज्जा का अनुभव क्यों करूँ।"

भाव कवि स्वच्छन्द कामी : चेतना संसार की लौहकारा से मुक्त होकर प्रवृत्ति की ओर से पलायन करने का साहस ही करता है जैसे–"आकुलो आकुनै, पुवुलो पुवुनै, कोम्मलो कोम्मनै, नुनुलेत रेम्मनै, ई अड़वि दारिलोन अर्थात् पल्लव में बन नव पल्लव, फूल में बन फूल, डाली में बन डाली, बन नव कोंपल छिपूँ इस वन में।"[2] यह स्वच्छन्दता की पराकाष्ठा है। सामाजिक विकास के प्रति भाव कवि की कोई रुचि नहीं है।

छायावादी कवियों के जैसे ही तेलुगु के भाव कवियों ने भी एक भावात्मक आदर्श को स्थापित करने का अथक प्रयास किया है। अधिकांश भाव कवियों ने प्रकृति की रमणीयता, नारी की कोमलता, तथा प्रेम की मधुरता के प्रति मोहित होकर शिल्पगत विशेषताओं को अपना कर अपने काव्य जगत् का निर्माण किया है।

अन्ततः अन्तर्मुखी वैयक्तिक भावों की तरलता ही भाव कविता की प्रमुख विशेषता है जिसके माध्यम से भाव कवियों ने अपने स्वानुभवों को खुले आम प्रकट किया है।

अभ्युदय कविता : मूल्य-दृष्टिकोण, विचार से अभिभूत

भाव कविता की अतिशय कल्पना तथा रूपवादी संस्कारों की क्रान्तिकारी प्रतिक्रिया के रूप में आधुनिक तेलुगु साहित्य के इतिहास में "अभ्युदय कविता" का प्रादुर्भाव हुआ है जो भाव कविता की पूर्ववर्तिनी काव्यधारा को पुनः उपलब्ध कराती है। अभ्युदय कविता के उदय होने से तेलुगु साहित्य में नवीन मूल्यों का प्रतिस्थापन हुआ। साहित्य में क्रमशः आत्मिक अनुभूति के स्थान पर दृष्टिकोण का महत्व बढ़ने लगा। अभ्युदय कविता की अभिव्यक्ति के मूल में मार्क्स का दर्शन है। वस्तुतः मार्क्सवाद सर्वहारा वर्ग का सशक्त जीवन दर्शन है। जो सर्वहारा वर्ग का कल्याण, विकास के लिये संघर्ष तथा वर्गीय भावना के उच्चाटन को बढ़ावा

---

1. आधुनिक तेलुगु साहित्यम लो विभिन्न दोरणुलु–के. के. रंगनाथाचार्युलु, पृ. 16
2. कृष्ण पक्षमु–पृ. 5–कृष्ण शास्त्री

देता है। मनुष्य प्राकृतिक नियमों व सामाजिक नियमों को केवल जानने के लिये प्रयत्न ही नहीं करता बल्कि सामूहिक शक्ति व चेतना के साथ वह उसे बदल डालना भी चाहता है। "केवल जनता द्वारा ही चरित्र का निर्माण संभव है" का दर्शन ही इसके पीछे सक्रिय है। वर्गहीन समाज की स्थापना ही इस दर्शन का प्रधान लक्ष्य है। अभ्युदय कविता भी इन्हीं विचारों से अभिभूत है। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के आधार पर ही अभ्युदय कविता का उत्थान हुआ है। पराधीन भारत को मुक्ति दिलाना और स्वस्थ समाज निर्मित करना अभ्युदय कविता का लक्ष्य था। हिन्दी के प्रगतिवादी कविता आन्दोलन की तुलना में तेलुगु में अभ्युदय कविता आन्दोलन कुछ देरी से प्रारम्भ होता है। प्रप्रथम अभ्युदय शब्द का प्रयोग करने का श्रेय 'श्री श्री' को जाता है। वास्तव में अभ्युदय कविता के प्रवर्तक श्री श्री ही हैं। तेलुगु की अभ्युदय कविता की अपनी विशेषताएँ तथा विशिष्टताएँ हैं जो समस्त भारतीय भाषाओं के प्रगतिशील आन्दोलनों से अगल पहचान रखती हैं।

तेलंगाणा के किसानों के सशस्त्र संघर्ष के दौरान तेलुगु के प्रगतिशील कवियों का क्रान्तिकारी योगदान है। किसान संघर्ष ने सामंतवाद की जड़ों को हिलाकर रख दिया है।

अभ्युदय कविता के प्रमुख सार्थक हस्ताक्षरों में श्री दाशरथि, आरूद्र, अनिसेट्टी, सोमसुन्दर रेंटाला, गंगिनेनी आदि कवि उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से तेलुगु प्रान्त में साम्राज्यवादी, सामंतवादी तथा समाज विरोधी शक्तियों को चुनौती दी है।

निष्कर्षतः तेलुगु के अभ्युदय कवियों ने कविता के कथ्य और शिल्प के स्तर पर गुणात्मक परिवर्तन किया है। इतना होते हुए भी स्वातन्त्र्योत्तर काल के अपने लक्ष्यों के निर्धारण में वे पीछे ही रहे। पुनः प्रतिक्रियावादी तथा अतीतोन्मुखी शक्तियाँ सक्रिय होने लगीं।

प्रयोगशील कविता

हिन्दी की प्रगतिवादी कविता के विरोध में जिस प्रयोगशीलता का उदय हुआ है लगभग वही तेलुगु की अभ्युदय कविता की प्रतिक्रिया में अवतरित हुआ है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि हिन्दी में प्रयोगशीलता ने जिस साहित्यिक आन्दोलन का रूप धारण किया है वह तेलुगु में अनुपलब्ध है। हिन्दी की प्रगतिवादी कविता की प्रतिक्रिया में उपजी प्रयोगशील कविता का स्पष्ट रूप है जबकि तेलुगु में इसका अभाव है। इसका कारण यही था कि तेलुगु की अभ्युदय कविता की प्रबलता तथा हुंकारों में भाव कविता के आत्मोन्मुख संस्कार दब गये थे। सच बात तो यह है कि तेलुगु में प्रयोग की प्रवृत्ति को अभ्युदय कविता ही बहुत समय तक

आत्मसात की हुई थी। दूसरे शब्दों में तेलुगु में प्रगति और प्रयोग की प्रवृत्तियाँ साथ-साथ चलती थीं।

आरुद्र, कुंदुर्ती, नारायणबाबू आदि कवियों में भले ही वे एक सुनिश्चित प्रयोगशील काव्यान्दोलन से नहीं जुड़े हुए हों, प्रयोगशील कविता की प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं।

कहने का सारांश यह है कि तेलुगु में प्रयोगशील कविता के नाम से कोई आन्दोलन तो नहीं चलाया गया है। फिर भी काव्य रूढ़ियों के प्रति विद्रोह तथा वस्तु के अतिरिक्त शिल्प में नवीनता का आग्रह करने वाले कवि उपलब्ध हैं जो 'वचन कविता' आन्दोलन का सूत्रपात कर एक तरह से हिन्दी के प्रयोगवादी कवियों के समीप पहुँचते हैं।

निष्कर्ष

हिन्दी और तेलुगु कविता के विकास क्रम में जो तरह-तरह के मोड़ आये थे, उनसे निम्नलिखित वैचारिक बिन्दु सामने आते हैं। जो चेतना के विकास में वैचारिक साक्षात्कार की आवश्यकता पर बल देते हैं—

1. हिन्दी कविता में लोक चेतना तथा आग्रह मुक्त चिन्तन का अभाव जो शुरू में था उससे धार्मिक भावना और लौकिकता से सम्बन्धित नये मूल्यों के मध्य संघर्ष बढ़ने लगे। वहाँ पर तेलुगु में विलासिता की बढ़ौती के कारण लोक चेतना दब सी गयी थी।

2. हिन्दी में ईश्वरीय चिन्तन और सामंतीय विचार के आग्रह इतने अधिक थे कि आग्रह मुक्त चिन्तन का अभाव सा हो गया। फलतः नयी प्रवृत्तियों तथा समकालीन चेतना की प्रेरणा के रूप में सामाजिक आधारों की खोज के लिये भावात्मक और आलोचनात्मक मूल्यों को बढ़ावा देने के लिये मूल्यों का हिल जाना (श्रद्धा) तथा संस्कृति का आन्दोलित हो जाना आवश्यक हो गया है। इसकी प्रतिक्रिया के परिणाम में समाज के समग्र रूप का अवगाहन न पाकर संवेदना के दबे स्वर का आश्रय लेना पड़ा। वहाँ पर तेलुगु में परम्परागत एवं अतीतोन्मुखी होकर आत्मिक जीवन को ही सामाजिक आधार बनाना पड़ा। फलतः प्रेम, प्रकृति, देशभक्ति, सामाजिक सुधार, भक्ति-स्मृति, देशिक, प्रवृत्ति के सम्बन्ध में निर्णय लेने के लिये आत्मिक संस्कारों का आश्रय लेना पड़ा, जिसमें स्वच्छन्दता, स्वप्न और सौन्दर्य प्रियता अतीतोन्मुख बनाने वाले संस्कार कार्यरत होते हैं।

3. जीवन की वास्तविकता वाली कविता का सूत्रपात होने के कारण वस्तुओं की जगह पर वस्तुओं, कल्पनाओं, आग्रह मुक्त रूपों (हिन्दी) तथा आत्मिक जीवन के सन्दर्भों और संस्कारों (तेलुगु) की जगह पर पहली बार दृष्टिकोणों के टकराव के प्रश्न उभर कर सामने आते हैं। भावात्मक एवं आलोचनात्मक यथार्थ

के प्रश्न दृष्टिवादी प्रश्न तथा विदेशी सभ्यता तथा आत्मवादी सभ्यता के प्रश्न उभर कर आते हैं। पहले प्रश्न के साथ जीवन की वास्तविकता के व्यावहारिकता के प्रसंग आते हैं। दूसरे प्रश्न के साथ मध्यवर्गीय चेतना का प्रसंग आता है। प्रथम में विश्वासों के प्रतिष्ठित मूल्य हिल जाते हैं। दूसरी के कारण सम्बन्धों में प्रतिक्रिया के परिणाम रूप स्वतन्त्रता संग्राम के साथ-साथ विकसित हुये थे।

4. अन्तर्मुखी व्यक्तिवाद का आश्रय मध्यवर्ग स्वीकार करें, (हिन्दी) वैयक्तिक अन्तर्मुखी स्वानुभव को ही प्रकट करें। भावात्मक आदर्श की स्थापना करें या सामाजिक विकास को नकारे (तेलुगु) यह मध्यवर्गीय दृष्टिकोण के आधार बिन्दु बने थे।

5. पराधीनता से पीड़ित भारतीय जन मानस में उभरने वाली स्वतन्त्रता की अभिलाषा (हिन्दी), पराधीन भारत को मुक्ति दिलाने का प्रयत्न तथा तेलंगाना के सशस्त्र संघर्ष के दौरान सामंतवाद के विरोध एवं स्वस्थ समाज के निर्माण के प्रयत्न में पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के विरोध और वर्गहीन समाज की स्थापना जैसे सन्दर्भ स्वातन्त्र्योत्तर कविता के मोड़ों के चिन्तन के प्रसंग रहे हैं। स्वातन्त्र्योत्तर काल के लक्ष्यों के निर्धारण में सहायक भूमिकारत यह अनुभव इतिहास के भोगे हुये अनुभव थे। विगत शक्तियों की चुनौती देने वाले युक्त व्यावहारिक विचारधारात्मक अंशों के धरातल पर भविष्य के लक्ष्यों के निर्धारण करने में सहयोगी यह अंश कविता के विचारात्मक आयाम के प्रतिबोधक एवं निर्णायक तत्व थे।

6. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-तेलुगु कविता के विचार के रूप को सहायता देने वाले परिवर्तनाधीन विषय वस्तुओं की पहचान, कविता के संस्कारों, स्वरों, सांस्कृतिक परिवर्तनों, कला की सामाजिकता के अंशों कविता के जगत् के परिवर्तनों—उत्पादक शक्तियों के सम्बन्धों के बदलाव एवं जीवन सन्दर्भों के साथ के टकराव के लक्ष्यों के रूप में प्रेमपथ के विकास में सामाजिक नियन्त्रण की बाधाएँ एवं अतिशय कल्पना तथा रूपवादी संस्कारों की प्रतिक्रिया कविता का आन्दोलन के रूप में स्वीकृति और अस्वीकृति एवं काव्य रूढ़ियों के प्रति विद्रोह जैसे तत्व काव्य परम्परा की ऐतिहासिक यात्रा के वैचारिक बिन्दु ठहरे हैं। जो आगे चलकर साहित्य के स्वस्थ मार्ग के निर्माण में और उसके लक्ष्यों के निर्धारण के सहयोग में सक्षम रहते हैं।

हिन्दी के द्विवेदी युगीन कविता तथा तेलुगु में गुरजाड अप्पाराव युगीन कविता में ऐहिक जीवन के प्रति मोह अधिक था। सामाजिक एवं राष्ट्रीय जागरण के स्वर ही कविता के केन्द्र में उपलब्ध हैं। हिन्दी की तुलना में तेलुगु कविता के आधुनिक इतिहास में गुरजाड अप्पाराव की रचनाओं में सामाजिक जड़ें बहुत ही

गहरी थीं। वास्तव में गुरजाड अप्पाराव अपने समय से बहुत आगे थे। सामाजिक कुरीतियों के निर्मूलन के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त परिष्कृत था। जड़ीभूत चिन्तन परम्परा की जगह चेतनशील चिन्तन का प्रतिस्थापन गुरजाडा युग में ही हुआ है। इसके विपरीत छायावादी कविता तथा भाव कविता में अन्तर्मुखी वैयक्तिक चेतना का आधिक्य था। हिन्दी में प्रगतिवादी कविता एवं तेलुगु में अभ्युदय कविता निश्चित रूप से सामाजिक यथार्थों से गुँथी हुई थी। प्रयोगवादी कविता ने रूपगत प्रयोगों तथा शिल्पगत नवीनता पर बल दिया था।

कहने का तात्पर्य यह है कि स्वतन्त्रता पूर्व आधुनिक हिन्दी तेलुगु कविता में समान्तर रूप से या तो जीवन सन्देश, विचारधारा को महत्व दिया गया है या शिल्प कौशल के प्रति अतिशय मोह प्रकट किया गया है। इसे विडम्बना ही समझना चाहिए कि यह दोनों प्रवृत्तियाँ एक दूसरी से टकराती हुई स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी और तेलुगु कविता की दिशा निर्धारण में गतिशील हैं।

इन सारी नयी उद्‌भावनाओं के आधार पर हिन्दी और तेलुगु काव्य परम्परा की ऐतिहासिक यात्रा के मोड़ स्वातन्त्र्योत्तर कविता की नींव बनने की योग्यता और उसकी उपयोगिता स्पष्ट कर देते हैं। वैचारिक दिशा और उसकी चेतना के नव उन्मेष को उभार और निखार में आधुनिक हिन्दी-तेलुगु कविता के यह प्रारम्भिक वैचारिक बिन्दु 1947 के पहले ही स्वतन्त्रता संग्राम के साथ-साथ विकसित हुये थे।

3

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-तेलुगु कविता और मार्क्सवाद

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-तेलुगु कविता के वैचारिक संघर्ष के निर्णायक मोड़

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-तेलुगु कविता का वैचारिक स्वरूप विविध है। इस समय सूचक सेतु के बाद हिन्दी तेलुगु-कविता अनेक उपधाराओं में बँटी है जिनके मूल में विभिन्न वैचारिक प्रणालियाँ कार्यशील हैं। इस पृथक्कीकरण के लिए आजादी से पूर्व ही स्रोत विद्यमान है। "यद्यपि प्रगतिवादी और प्रयोगवादी काव्य आन्दोलन प्रायः एक ही समय में आविर्भूत हुये थे और आरम्भ में कुछ वर्षों तक दोनों की मिली जुली स्थिति थी, परन्तु क्रमशः भेद बढ़ता गया और काव्य-प्रवृत्तियाँ भी बदलती गयी हैं। प्रगतिवादी कवि और प्रयोगवादी कवि, दोनों ही यथार्थवाद का नाम लेते हैं और दोनों ही छायावाद की कल्पना प्रधान आदर्शवादी भावधारा की अनुपयोगिता बताते हैं। परन्तु जिस यथार्थ की सरणि में ये दोनों धारायें प्रवाहित हो रही हैं, उनके स्रोतों में काफी अन्तर है। प्रगतिवादी काव्यधारा सामाजिक यथार्थ के अधिक समीप है और उसका लक्ष्य भी अधिकाधिक समीपता की ओर जाने का है। इससे भिन्न प्रयोगवादी यथार्थ मनोवैज्ञानिक और वैयक्तिक परिवेशों को प्रमुखता देता है, नियति कुंठा, अतृप्ति आदि के तत्त्वों को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार प्रयोगवादी और नयी कविता प्रकृतिवादी यथार्थवादी की भूमिका पर आकलित की जा सकती है जबकि प्रगतिवादी काव्य समाजवादी यथार्थ के विवेचन क्रम के अधिक समीप है।"[1] यही सामाजिक यथार्थ और वैयक्तिक परिवेशों के बीच संघर्ष आजादी के बाद तीव्र हुआ है। आजादी के बाद परिवर्तित सामाजिक स्वरूप के अनुकूल कविता प्रवर्तमान नहीं होती है। वह मूल्य निर्माण की दिशा में न जा कर मूल्य विखंडन की ओर उन्मुख हुई।

वास्तव में जब समाज में संघर्ष की तीव्रता कम हो जाती है। चारों ओर

---

1. नयी कविता—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—पृ. 42

स्तब्धता छा जाती है तो सहज ही साहित्य के अन्तर्गत तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ पनपती हैं–1. विद्रोही चेतना, 2. वैयक्तिक चेतना तथा 3 कलावादी व रूपवादी चेतना। स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में हिन्दी-तेलुगु की प्रगतिवादी कविता के अन्तर्गत जब स्तब्धता छायी हुई थी तब ऊपर उल्लिखित तीन प्रकार की भावनाएँ पूर्ण चेतना के साथ प्रकट हुई हैं। इन्हें प्रभावित करने वाली प्रमुख विचारधाराएँ मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद, अतियथार्थवाद, प्रतीकवाद तथा बिम्ब-वाद अन्तः सूत्र की भाँति क्रियाशील हैं। इनके समर्थन व विरोध में अनेक कविता आन्दोलन उभरे हैं। जैसे हिन्दी में नई कविता, अकविता, विचार कविता, बीट कविता आदि और तेलुगु में वचन कविता, दिगम्बर कविता, तिरुगबडु कविता, विप्लव कविता इत्यादि। अध्ययन के विषय के अनुकूल स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में उभरे हुए विभिन्न कविता आंदोलन की संज्ञाएँ न ग्रहण कर 'वैचारिक' पक्ष को ही प्रमुखता दी गई है। जहाँ उचित लगा है निस्संकोच इन कविता आन्दोलन की ओर संकेत भी किया गया है।

सारांशतः स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिवेश में व्यक्तिनिष्ठ और समाजनिष्ठ दृष्टिकोणों के निरन्तर संघर्ष के परिणाम स्वरूप महान साहित्य सृजित हुआ है। स्वातंत्र्योत्तर प्रगतिशील कविता के केन्द्र में मुख्यतः आम आदमी की भूख और रोजी ही प्रधान हैं। आम आदमी को आतंकित करने वाली प्रत्येक चीज प्रगतिशील कविता का विषय बन गया है। जबकि वैयक्तिक भावनाओं को प्रश्रय देने वाली कविता में स्पष्टतः सामाजिक संघर्षों से पलायन, कुंठा, अतृप्ति, संत्रास इत्यादि भावनाएँ ही लक्षित हैं जो संघर्ष के सही दिशा निर्देशन में अवरोधक बनती है। आगे इसका विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता : मार्क्सवाद

परिवर्तन को आधार मानने वाला मार्क्सवादी दर्शन यह स्पष्टतः स्वीकार करता है कि अब तक दार्शनिक केवल सृष्टि की व्याख्या करते रहे हैं, किन्तु अब आवश्यकता है कि उस दृष्टि में परिवर्तन किया जाय। दर्शन के रूप में, मार्क्सवाद सृष्टि और समाज का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है और क्रियात्मक रूप से सामाजिक परिवर्तन के लिये प्रयास करता है और विश्व साहित्य पर एक महत्वपूर्ण प्रभाव छोड़ता है।

मार्क्सवाद का यह स्पष्ट अभिमत है कि वर्ग विभक्त समाज में कला का भी वर्गीय स्वरूप होता है।[1] वह पक्षधर होती है। "विशुद्ध-कला" या "कला के लिये कला" जैसी कोई चीज नहीं है और न ही हो सकती है।[2] क्योंकि 'कला' कलैण्डर की

1. दर्शन, साहित्य और समाज : शिवकुमार मिश्र, पृ. 15
2. तीसरा सप्तक : केदारनाथ सिंह का वक्तव्य, पृ. 129

चीज नहीं है। वह कलाकार की अपनी बहुत निजी चीज है। जितनी ही अधिक वह उसकी अपनी निजी है, उतनी ही कालांतर में वह औरों की भी हो सकती है।[1] कला की अभिगम्यता, प्रबल प्रतीतिकारी शक्ति और भावात्मक प्रभाव उसे वर्ग संघर्ष का महत्वपूर्ण हथियार बनाते हैं। इसीलिये समाज में विभिन्न वर्ग अपने राजनीतिक, नैतिक तथा अन्य विचारों के वाहन के रूप में कला का प्रयोग करते हैं।

वैसे तो कला ऊपरी ठाट का अंग है। इसीलिये वह उस आधार की सेवा करती है जिसने उसे उत्पन्न किया है और जिसके चलते वह विकसित होती है। उदाहरण के लिये, आज की पूँजीवादी कला पूँजीवादी आधार की सेवा करती है। वह निजि संपत्ति और शोषण पर आधारित समाज के अस्तित्व को उचित ठहराने तथा इस समाज को उन शक्तियों से बचाने का प्रयास करती है जो अनिवार्यतः उसे हटा कर नये समाजवादी समाज को प्रतिष्ठित करेंगी।

पूँजीवादी कला में उन कलाकारों को प्रमुख स्थान प्राप्त होता है जो साम्राज्यवादी शक्तियों की खुलकर सेवकाई करते हैं और पूँजीवादी व्यवस्था को सजाधजा कर पेश करने का प्रयत्न करते हैं; जो जनता का ध्यान सामाजिक समस्याओं की ओर से, शांति और सामाजिक प्रगति के लिये संघर्ष की ओर से दूसरी दिशा की ओर मोड़ने की चेष्टा करते हैं। स्पष्टतः उनकी रचनाओं में निराशा, भविष्य के प्रति अनास्था और जीवन के यथार्थों से अर्थहीन विधावाद के दलदल में भागने की इच्छा की छाप रहती है। अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद, अतियथार्थवाद तथा अन्य रूपवादी एवं कलावादी आंदोलनों से प्रभावित रचनाएँ इसी कोटि में आती हैं। इसका विस्तृत अध्ययन अलग से प्रस्तुत किया जा रहा है।

वास्तव में प्रत्येक वर्ग ऐसी कला को जन्म देता है जो उसके वर्ग हितों एवं सौन्दर्य बोध की आवश्यकताओं के अनुरूप होती है। लेकिन यह भी अतिशयोक्ति नहीं है कि समाज में ऐसे भी कलाकार व रचनाकार पर्याप्त संख्या में उपलब्ध होते हैं जो यथार्थ के प्रभाव एवं इतिहास के वस्तुगत आदेशों से प्रतिक्रियावादी शक्तियों की सेवा करने से इनकार करते हैं। वे जनवादी एवं प्रगतिशील शक्तियों के हितों को व्यक्त करते हैं। उनकी रचनाएँ सत्य निष्ठा, जीवन की गहन अंतर्वेधी दृष्टि और न्याय एवं विवेक विजय में विश्वास से ओत-प्रोत होती हैं। यथार्थवादी कला सर्वदा जनता के साथ जुड़ती है। कला के लोक स्वरूप के सम्बन्ध में लेनिन ने कहा था—"कला जनता की चीज है। उसकी जड़ें मेहनतकश जनता के बीच गहराई के साथ जमी होनी चाहिए। कला ऐसी होनी चाहिए जिसे आम जनता समझे और

1. कुछ कविताएँ व कुछ और कविताएँ : शमशेर बहादुर सिंह, पृ. 75

चाहे। कला को आम जनता की संवेदनाओं, विचारों एवं इच्छा को जोड़ना और उद्वेलित करना चाहिए, इसे जनता के अन्दर कलात्मक सहज वृत्तियों को उद्वेलित तथा विकसित करना चाहिए।[1] सही कलाकार कला को सबसे जरूरी सामाजिक समस्याओं की ओर उन्मुख करते हैं। वे निश्चित रूप से यह मानकर चलते हैं कि हममें से प्रत्येक अपने हृदय के आदेशों पर साहित्य का सृजन करते हैं और हमारे हृदय हमारी जनता के हैं जिसकी हम अपनी कला द्वारा सेवा करते हैं।

सारांशतः कल्पना की अतिशयता तथा वैयक्तिक अंतर्मुखी चेतना से रहित वस्तुगत एवं सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति ही मार्क्सवादी साहित्य चिंतन की अन्यतम विशेषता है। मार्क्सवादी चेतना से लैस कवि जन प्रतिबद्धता तथा वर्ग चेतना के साथ साहित्य निर्मित करते हुए प्रतिक्रियावादी एवं जन विरोधी शक्तियों का मुँह तोड़ जवाब देते हैं। साहित्य को आम आदमी के साथ जोड़कर उसे एक दिशा प्रदान करते हैं। जन साहित्य के बारे में मुक्तिबोध ने लिखा है–"जनता के साहित्य से अर्थ है ऐसा साहित्य जो जनता के जीवन मूल्यों को, जनता के जीवनादर्शों को प्रतिष्ठापित करता हो, उसे अपने मुक्ति पथ पर अग्रसर करता हो।"[2]

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता के इतिहास में ऐसे अनेक कवि हुए हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से जनता के जीवन मूल्यों एवं संघर्ष को वाणी दी है और एक स्वस्थ आदर्श स्थापित करने के सफल प्रयास किये हैं। यह अस्वाभाविक नहीं है कि ऐसे जन कवियों का सत्ता वर्ग के पिछलग्गू और प्रतिक्रियावादी लेखकों द्वारा न केवल विरोध किया जाता है बल्कि गलत मूल्यांकन भी प्रसारित किया जाता है। वैसे तो मार्क्सवाद से प्रभावित प्रगतिवादी कविता पर मुख्यतः नारेबाजी कलाहीनता, भदेसपन, बौद्धिकता, दलगत राजनीतिक प्रचार, विदेशी अनुकरण आर्थिक पक्ष की प्रमुखता आदि के आरोप लगाये गये हैं।

यह सच है कि इस प्रकार के आरोप सर्वदा निराधार नहीं हैं। लेकिन यह और भी सच है कि बहुत अंशों में ऐसे आरोप स्वतः भी आग्रहों–दुराग्रहों से प्रेरित हैं। आरोपों का यह सिलसिला केवल प्रगतिवादी कविता आंदोलन (स्वतन्त्रता पूर्व कविता के लिये यह शब्द रूढ़ि हो गया है) तक ही सीमित नहीं है बल्कि आजादी के बाद भी जारी है। ऐसे विचार व आरोपों को लक्ष्मीकान्त वर्मा की ही आलोचना में देखा जा सकता है। जैसा कि उन्होंने लिखा है–"यदि देखा जाय तो केदार भाव क्षेत्र में असंगत रूढ़ियों में उलझकर संस्कार च्युत हो जाते हैं।...... नागार्जुन की अधिकांश कविताओं में बौखलाहट और भौंडेपन का परिचय मिलता है। ......

1. क्लारा जेटकिन : लेनिन सम्बन्धी संस्मरण, मास्को, पृ. 19–20
2. मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृ. 76

उनमें (मुक्तिबोध) विश्व चेतना तो ओढ़ा हुआ "आदर्शवाद" है, मूलतः वे "निराशावादी", "व्यक्तिवादी", "अंतर्मुखी" चेतना के कवि हैं।"[1] और भारत भूषण अग्रवाल यह मानते हैं–"स्वातंत्र्योत्तर युग में प्रगतिवाद साम्यवादी नारेबाजी के शंखनाद का अनुगमन करता हुआ भावहीन मरु की बालू में लुप्त हो गया।"[2] ऐसी आलोचना और विचार के पीछे प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण ही सक्रिय है। जो किसी न किसी रूप में समाजवाद का विरोध करता है। वास्तव में यही शक्तियाँ प्रगतिवादी आन्दोलन पर हावी थीं। इन शक्तियों द्वारा जनवादी कवि और कविता को जितना ही दबाया गया है वह उतनी उभरी और निखरी। इसका सशक्त प्रमाण आजादी के बाद की प्रगतिशील कविता ही है। भले ही नयी कविता के प्रवर्तकों और अन्य समाजवादी विरोधी शक्तियों द्वारा जनवादी कविता का विरोध किया गया हो लेकिन निश्चित रूप से आजादी के बाद प्रगतिशील कविता भारतीय आत्मा से जुड़ती गयी है। पुराने प्रगतिशील कवि नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, मुक्तिबोध और शमशेर अपने बदलते हुए संदर्भों में नयी परिस्थितियों की नये समझ के साथ अधिक पैनी दृष्टिकोण वाली रचनाएँ लेकर जनवादी कविता आन्दोलन में शरीक हो रहे थे। और जनवादी काव्य धारा में सैकड़ों कवि जैसे नेमिचन्द्र जैन, कुमार विकल, वेणुगोपाल, ॠतुराज, आलोकधन्वा, मनमोहन, श्रीहर्ष, रमेश रंजक, रघुवीर सहाय, राजीव सक्सेना, केदारनाथ सिंह, कांतिमोहन, केवल गोस्वामी, धूमिल आदि बड़ी संख्या में जुड़ते गये। इनमें ऐसे भी कवि हैं जो अपने को कम्युनिस्ट घोषित करते हुए किसी प्रकार की हिचकिचाहट महसूस नहीं करते। मुक्तिबोध, अग्रवाल और नेमिचन्द्र जैन अपने को कम्युनिस्ट स्पष्ट घोषित करते हैं। यथा–

"क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ।"[3] "पढ़ने में विशेष दिलचस्पी है। राजनीति में (क्रियात्मक रूप से) मार्क्सवादी और कम्युनिस्ट भी।"[4] शमशेर के निकट मार्क्सवाद का वैज्ञानिक आधार लेकर आस-पास की जिन्दगी में रुचि लेकर उसे समझना है–"इसका सीधा-सादा मतलब हुआ अपने चारों तरफ की जिन्दगी में दिलचस्पी लेना; उसको ठीक-ठाक यानि वैज्ञानिक आधार पर (मेरे

---

1. नयी कविता में वर्ग उन्मूलन और वैयक्तिक कुण्ठाएँ : आलोचना, अप्रैल 1953, पृ. 68–70
2. प्रसंगवश : भारत भूषण अग्रवाल, पृ. 66
3. तार सप्तक : सं अज्ञेय–मुक्तिबोध का वक्तव्य।
4. तार सप्तक : सं. अज्ञेय–नेमिचन्द्र जैन का वक्तव्य।

नजदीक यह वैज्ञानिक आधार मार्क्सवाद है) समझना और जानकारी से सुलझाकर, स्पष्ट करके, पुष्ट करके अपनी कला भावना को जगाना। यह आधार युग के हर सच्चे और ईमानदार कलाकार के लिये बेहद जरूरी है।"[1]

आजादी के बाद निश्चित रूप से प्रगतिशील कविता ने अपने को आगे बढ़ाया और जन हितों के लिये संघर्ष किया। यहाँ एक तथ्य याद रखने योग्य है कि संगठन के स्तर पर आजादी के बाद प्रगतिशील कविता आन्दोलन राजनीतिक पार्टियों की भाँति ही बिखर गया है। प्रगतिशील लेखक संघ, जनवादी लेखक संघ तथा अनेक मंचों के रूप में यह आन्दोलन अस्त-व्यस्त हो गया अवश्य। यहाँ इन संस्थाओं की गतिविधियाँ प्रस्तुत करना न तो उचित है, न काम्य। आलोच्य शोध संदर्भानुकूल कुछ विशिष्ट कवि जो मार्क्सवादी चेतना से प्रभावित हुए हैं उन्हीं का संदर्भ लिया जा रहा है। इनमें से कुछ कवि उपर्युक्त संस्थाओं की संगठनात्मक गतिविधियों में भले ही सक्रिय भाग लेते हों विज्ञ पाठक यह समझें कि यह केवल अध्येता की सीमाएँ मात्र हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता के अन्तर्गत मार्क्सवाद से प्रभावित प्रगतिशील कविता के स्वर की व्यापकता मुक्तिबोध की निम्नलिखित कविता के आलोक में लक्षित की जा सकती है—

"जिनके स्वभाव के गंगाजल ने
युगों-युगों तक तारा है
जिनके कारण यह हिन्दुस्तान हमारा है
कल्याण व्यथाओं में घुलकर
जिन लाखों हाथों-पैरों ने यह दुनिया
पार लगाई है
जिनके की पूत-पावण चरणों में
हुलसे मन—
से निछावर जा सकते
सौ-सौ जीवन
इन जन-जन का दुर्दांत रुधिर
मेरे भीतर, मेरे भीतर।"[2]

यह सर्वसम्मत न भी हो तो एक स्थापित सत्य अवश्य है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में पहली बार प्रगतिशील कविता में सामाजिक यथार्थ को एक विशिष्ट

---

1. दूसरा सप्तक : सं. अज्ञेय : शमशेर सिंह का वक्तव्य।
2. मुक्तिबोध रचनावली, भाग–1, पृ. 358

वैज्ञानिक और क्रांतिकारी समाजवादी दृष्टि से ग्रहण किया गया है और इससे प्रगतिशील कवि ने समस्या के भीतर तक प्रवेश किया और वर्ग रहित समाज की स्थापना के रूप में उसका समाधान भी खोज सका।

अत: स्वातंत्र्योत्तर प्रगतिशील हिन्दी कविता में जनता की तरफदारी, महाजनी समाज के ध्वंस की सक्रिय चेतना तीन स्तरों पर व्यक्त हुई है–

1. सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भों में विश्लेषण एवं व्यक्ति और समाज के द्वन्द्वात्मक धरातल की पहचान।

2. मनुष्य की नयी प्रतिभा का निर्माण। मनुष्य वर्तमान विसंगतियों को झेलने और उन्हें ही मूल्य के रूप में स्वीकार करने को विवश (अभिशप्त) प्राणी नहीं है। वह इतिहास के सहज प्रवाह में अपनी सजग और सक्रिय भूमिका द्वारा अपनी नियति में दखल दे सकता है और अपने भविष्य की खुद रचना कर सकता है।

3. गहन यथार्थ बोध, इतिहास बोध और इनसे उत्पन्न दायित्व बोध। यह दायित्व बोध मनुष्य को अंतर्गुहवास से निकाल कर समय की चुनौतियों का सामना करने की प्रेरणा देता है और मनुष्य को व्यक्ति नहीं समाज और संगठन बनाता है।[1]

और इस चेतना को स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में निम्न तत्वों के आधार पर लक्षित किया जा सकता है।

आजादी : साम्राज्यवाद की साठगाँठ में

केदारनाथ अग्रवाल ने भविष्य द्रष्टा की भाँति देश के अनौपचारिक विभाजन से ठीक एक वर्ष पूर्व ही लिखा था–

> "आह ! धरती बँट गयी है !
> एक हिन्दुस्तान अब दो हो गया है।
> आग, पानी और गगन तक बँट गया है।
> आदमी का दिल कलेजा कट गया है......
> भूल यह ऐसी हुई है,
> जो अनेकों पीढ़ियों तक दुख हमें देती रहेगी,
> हम कराहा ही करेंगे।"[2]

यह एक स्थापित सत्य है कि साम्राज्यवादी शक्तियों ने मुस्लिम सम्प्रदायवाद को शह देकर आजादी आन्दोलन को बिखरने और कुचलने का प्रयास किया और

1. प्रगतिशील कविता के सौन्दर्य मूल्य : अजय तिवारी, पृ. 122
2. कहें केदार खरी-खरी, पृ. 26

काफी हद तक वे उसमें सफल भी हुए थे। वास्तव में उस समय कम्युनिस्टों के नेतृत्व में प्रगतिशील आंदोलन जोर पकड़ रहा था। देश भर के मजदूर किसान इनके नेतृत्व में संगठित हो रहे थे। विदेशी शिकंजों से मुक्ति पाने के लिये, नूतन समाज के निर्माण के लिये जनता छटपटा रही थी। पर कांग्रेसी नेतृत्व ने मुस्लिम लीग एवं अंग्रेजों से समझौता कर लिया था। अंग्रेजों द्वारा बनाये गये मार्ग ही उन्हें दिखाई दे रहे थे। वे ऊपरी तौर पर राष्ट्रीय एकता के सौगन्ध तो खाते थे लेकिन चाल सब विघटन की ओर ही थी। इसका स्पष्ट प्रमाण सन् 1947 की आजादी ही है। कांग्रेसी नेतृत्व ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से समझौता किया है या नहीं यह महत्वपूर्ण प्रश्न होते हुए भी भारतीय जनता के लिए धूमिल है। लेकिन भारतीय प्रगतिशील आन्दोलन ने इसे निश्चित रूप से पहचान लिया है। इसकी आलोचना करते हुए एक प्रस्ताव में कहा गया है–"जमींदारों का सहयोगी और साम्राज्यवाद से समझौता करने वाला भारत का पूंजिपति वर्ग उन बुर्जुआ–जनवादी कार्यों को पूरा नहीं कर सकता जिन्हें देश को अपनी मौजूदा मंजिल में पूरा करना है।"[1] यह स्थिति का सही वर्णन है। पैंतालिस वर्ष के आजाद भारत का इतिहास ही इसका सशक्त प्रमाण है।

यह स्मरण रहे कि प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन के 47–60 वाले दौर को खूब कोसा गया है। लेकिन इस दौर की अनेक रचनाओं में आजाद भारत की सही तस्वीर उपलब्ध होती है। कांग्रेसी नेताओं की साम्राज्यवाद से साँठ-गाँठ के सम्बन्ध में केदारनाथ अग्रवाल ने लिखा है–

"लन्दन में बिक आया नेता, हाथ कटा कर आया।
एटली-बिविन-अंग्रेजों में खोया और बिलाया।
भारत माँ का पूत सिपाही, पर घर में भरमाया
अंग्रेजी साम्राज्यवाद का उसने डिनर उड़ाया।"[2]

और कांग्रेसी नेताओं को लक्ष्य करके 15 अगस्त 1948 को नागार्जुन ने लिखा है–

"आज ही तुम मिल गये थे दुश्मनों से, गुनहगारों से,
छोड़कर संघर्ष का पथ,
भूल कर अंतिम विजय की घोषणाएँ
भोंक कर लंबा छुरा तुम सर्वहारा जन गणों की पीठ में।"

---

1. Documents of the History of the Communist Party, Part : 8, Page No. 435
2. कहें केदार खरी-खरी, पृ. 52

जनता आजादी को पहचान कर ही रही थी, संघर्षों की राह पर बढ़ ही रही थी, आजाद भारत के सत्ता के कर्णधारों ने उसे पुलिस के सहारे कुचलने का सिलसिला शुरू किया था। यह ध्यान रहे कि इसी दौर में कम्युनिस्टों के नेतृत्व में भूस्वामियों एवं रजाकारों के विरुद्ध तेलंगाना के किसानों द्वारा सशस्त्र संघर्ष चलाया जा रहा था। लेकिन सरकार ने 'पुलिस की कार्रवाई' के नाम पर कम्युनिस्ट पार्टी के हजारों कार्यकर्ताओं को मार डाला था। भूस्वामियों और रजाकारों को पूरी रक्षा दी गयी थी। इसी को लक्ष्य करके केदार जी ने लिखा है–

"लाठी मार पुलिस के मंत्री, सत्याग्रही पुराने।
कौंसिल घर में जीभ निकाले, चीनी लगे चुआने।
शांति सुरक्षा की पट्टी पर, मल्हम लगने लगाने।
अपनी काली करतूतों की चोटें लगे छिपाने।
कहता है केदार सुनो जी। धोखा है बेकार।
एक मिनट में मिट जाती है धोखे की सरकार।"[1]

केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन ने आजादी मिलने के कुछ ही वर्षों के बाद कांग्रेसी राज में भ्रष्टाचार, नैतिक पतन, जनता की भूख और गरीबी के सजीव चित्र खींचे। इनकी अनेक कविताएँ इसे प्रमाणित करती हैं। उदाहरण के लिये–

"देश की छाती दरकते देखता है!
थान खद्दर के लपेटे स्वार्थियों को,
पेट पूजा की कमाई में जुता मैं देखता हूँ।"[2]

अन्यत्र लिखा गया है–

"आग लगे इस रामराज में
ढोलक मढ़ती है अमीर की
चमड़ी बजती है गरीबी की
खून बहा है रामराज में
आग लगे इस रामराज में।"[3]

नागार्जुन की यह कविता देखिये–

"हमें सीख दो शांति और संयत जीवन की
अपने खातिर करो जुगाड़ अपरिमित धन की
बेच बेच कर गाँधी जी का नाम

1. कहें केदार खरी-खरी, पृ. 59
2. वही, पृ. 65
3. वही, पृ. 81

बटोरो वोट
हिलाओ शीश
बैंक बैलेंस बढ़ाओ
राजघाट पर बापू की बेदी के आगे अश्रु बहाओ।"[1]

यह जन संघर्षों वाले दौर का अगला चरण है। स्वाधीन भारत में देशीय नेताओं ने अपनी ही जनता पर किस प्रकार दमन चक्र चलाना शुरू किया है, और उसके विरोध में प्रगतिशील शक्तियों की प्रतिक्रियाएँ कैसी रही हैं, स्पष्ट हो जाता है। राजनैतिक क्षेत्र में कांग्रेसी नेतृत्व ने जनवादी क्रांति को प्रत्यक्ष रूप में कुचलने की नीति अपनायी तो साहित्यिक क्षेत्र में यह काम अज्ञेय ने किया है। इस वैचारिक संघर्ष को सन् 1947 से और भी गति मिली है। इस सम्बन्ध में डा. मैनेजर पाण्डेय कहते हैं–"1947 से लेकर 1951 तक का काल देश की राजनीति और हिन्दी साहित्य में भारी उथल-पुथल और गहरे संघर्ष का काल है। राजनीति में आजादी के नाम पर सत्ता हस्तान्तरण के बाद सामंती पूँजीवादी शोषक-शासक वर्ग से किसानों–मजदूरों का वर्ग संघर्ष तेज हुआ जिसकी अभिव्यक्ति तेलंगाना की कृषि क्रान्ति में हुई। हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद प्रयोगवाद, यथार्थवाद और कलावाद के बीच का संघर्ष तेज हुआ जिसकी अन्तिम परिणति प्रगतिशील आन्दोलन के विघटन और व्यक्तिवादी-कलावादी रचना-दृष्टि के रूप में प्रयोगवाद और नयी कविता की स्थापना के रूप में दिखायी देती है।"[2] आजादी के बाद सामाजिक और साहित्यिक प्रगति विरोधी अभियान के सम्बन्ध में मुक्ति बोध लिखते हैं–"स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त, भारत में एक ओर अवसरवाद की बाढ़ आई। शिक्षित मध्य वर्ग में भी उसकी जोरदार लहरें पैदा हुईं। साहित्यिक लोग उसके प्रवाह में बहे और खूब ही बहे। इस भ्रष्टाचार, अवसरवाद, स्वार्थपरक की पार्श्वभूमि में, नयी कविता के क्षेत्र में पुराने प्रगतिवाद पर जोरदार हमले किये गये और कुछ सिद्धान्तों की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। ये सिद्धान्त और उनके हमले, वस्तुतः उस शीत युद्ध के अंग थे जिसकी प्रेरणा लन्दन और वाशिंगटन से ली गयी थी। पश्चिम की परिपक्व मानववादी परम्परा से प्रेरणा ग्रहण न करके उन नये व्याख्याताओं ने उसको अत्यन्त प्रतिक्रियावादी साहित्यिक विचारधारा को अपनाया और फैलाया। नयी कविता के आस-पास लिपटे हुए बहुत से साहित्यिक सिद्धान्तों में शीत युद्ध की छाप है।"[3]

---

1. युगधारा–पृ. 92–93
2 आलोचना–जनवरी–मार्च 1979–पृ. 39
3. आधुनिक कविता की दार्शनिक पार्श्वभूमि (निबन्ध) मुक्तिबोध। रचनावली–भाग–5–पृ. 207

अतः यह स्पष्ट है कि प्रगतिशील कविता आन्दोलन के विरोध में अथवा मार्क्सवाद की भारतीय धरती से हटाने के लिये अनेक पश्चिमी विचारधाराओं को प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया गया है। कभी शीत युद्ध सिद्धान्तों का सहारा लिया गया तो कभी फ्रायडीय विचारों का। जब फ्रायडीय विचार पुराने पड़ गये थे तो अस्तित्ववाद जैसी घोर निराशावादी विचारधारा का आश्रय लिया गया है। आगामी पृष्ठों में इसका विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

यथार्थ की गहरी पहचान

यथार्थ, स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कविता की एक सृजनात्मक विधि है जिसमें युग की मुख्य अन्तर्वस्तु को, समाज की प्रगति सत्यता के साथ इतिहास की दृष्टि से पूर्ण एवं कला की दृष्टि से उच्च स्तरीय ढंग से प्रतिबिम्बित किया गया है। स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कविता की यह अन्यतम विशेषता रही है कि वह यथार्थ को प्रतिबिम्बित करने में सत्यनिष्ठता, गहनता, जनता के साथ सम स्वाभाविकता, पक्षधरता और जीवन कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करने में साहसपूर्ण अग्रसरता प्रदर्शित करती है और तमाम प्रगतिशील परम्पराओं को आत्मसात करते हुए लक्ष्योन्मुख होती है। दरअसल, स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कविता में वस्तुपरक सामाजिक चेतना पर्याप्त रूप में व्यक्त हुई है। इस धारा के कवि समाज सत्य के कर्म को अपने में और अपने को उसमें पाना चाहते हैं। शमशेर के शब्दों में–"कवि का कर्म अपनी भावनाओं में, अपनी प्रेरणाओं में, अपने आन्तरिक संस्कारों में, समाज सत्य के कर्म को ढालना–उसमें अपने को पाना और पाने को अपनी पूरी कलात्मक क्षमता से पूरी सच्चाई के साथ व्यक्त करना है जहाँ तक कर सकता हो।"[1] स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कविताएँ सामंजस्य और आनन्द स्थापित करने वाली नहीं हैं। "वास्तव की विस्फारित प्रतिमाएँ हैं।"[2] वह समाज का यथार्थ चित्रण अंकित करके दहशत पैदा करती हैं। उभारती हैं, झकझोरती हैं और बेचैन करती हैं। व जमाने की नवज पकड़ती हुई कविताएँ हैं, आदमी के पाखंड और ढोंग को बेनकाब करती हुई कविताएँ हैं। आम आदमी की जिन्दगी के साथ सीधे जुड़ने वाली कविताएँ हैं। वास्तव में स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कविता का प्रमुख चरित्र यथार्थ का खुरदुरापन और संघर्षशीलता की आक्रामक प्रवृत्ति है। इसी प्रवृत्ति ने व्यवस्था की यथास्थिति के विरुद्ध संघर्ष की चेतना को जगाने का काम किया है। प्रगतिशील कविता निस्संकोच यह मानकर चलती है कि वर्तमान व्यवस्था निरन्तर अप्रासंगिक होती जा रही है आम आदमी की कोई सुरक्षा नहीं है। नागार्जुन की

1. कुछ कविताएँ व कुछ और कविताएँ : पृ. 75
2. चाँद का मुह टेढ़ा है–पृ. 222

निम्न कविता में जन जीवन का यथार्थ एक सजीव दृश्य बन गया है–

"जमींदार है, साहूकार है, बनियाँ है व्यापारी है,
अन्दर अन्दर विकट कसाई, बाहर खद्दरधारी है,
माताओं पर, बहनों पर घोड़े दौड़ाये जाते हैं;
मारपीट है, लूटपाट है, तहस-नहस है, बरबादी है
जोर जुलुम है, जेलसेल है, वाह खूब आजादी है।"[1]

नागार्जुन की यह पंक्तियाँ प्रेमचन्द के गोदान की सामाजिक संरचना को सीधे हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर देती हैं। जहाँ किसानों का शोषण है, अत्याचार है, जोर जुलुम है। इस घृणित एवं बदबूदार समाज से भला क्या अपेक्षाएँ की जाती हैं? इसमें ही दमडीमल, लखपति और करोड़पति बन सकते हैं।

वास्तव में जब यथार्थ गहराता है और उसके समस्त अनुषंगिक व्यक्त कर लिये जाते हैं तो जागरूक लेखक को कोई-न-कोई पथ ढूँढ़ लेना पड़ता है। चाहे वह पथ वाम हो या दक्षिण। यह स्वाभाविक ही था कि स्वातन्त्र्योत्तर युग में भारतीय यथार्थ का संकट और भी संक्लिष्ट हो रहा था तो जागरूक व्यक्ति ने सहज ही विश्व मनुष्य पर महत्वपूर्ण छाप छोड़ने वाली मार्क्सवादी विचारधारा को अपनाया। वह इसी दृष्टिकोण के तहत समकालीन यथार्थ को उभारा है। प्रगतिशील कविता जीवन की विडम्बनाओं और विद्रूपताओं का बेबाक चित्रण करती है–जहाँ अकाल को भी सोहर की तरह गाया जाता है–

"लोग बिल बिला रहे हैं (पेड़ों को नंगा करते हुए)
पत्ते और छाल
खा रहे हैं
मर रहे हैं, दान
कर रहे हैं।
जलसों–जुलूसों में भीड़ की पूरी ईमानदारी से
हिस्सा ले रहे हैं और
अकाल को सोहर की तरह गा रहे हैं।"[2]

समकालीन यथार्थ उस सत्य को प्रमाणित कर रहा था जिसकी ओर मार्क्स ने बहुत पहले ही संकेत किया था। उन्होंने कहा था–"बुर्जुआ वर्ग जिन उत्पादन सम्बन्धों में सक्रिय होता है उनका चरित्र एक–सा नहीं होता है कि उन्हीं सम्बन्धों में जिनमें सम्पदा पैदा की जाती है, गरीबी भी पैदा की जाती है।"[3] यहाँ ध्यान

1. नागार्जुन–सच न बोलना
2. संसद से सड़क तक : धूमिल–पृ. 15
3. The philosophy of poverty : Karl Marx : P. 138

देने की बात यह है कि भारतीय समाज की जड़े सामंती अवशेषों पर भी आधारित हैं। वास्तव में भारतीय शोषण तन्त्र पूँजीपतियों और सामंतों के आपसी षडयन्त्र पर टिका हुआ है। स्वातन्त्र्योत्तर कवि इसे बहखूबी जानता है। तभी तो उन्होंने कहा है–

"पिस गया वह भीतरी
औ बाहरी दो कठिन पाटों बीच
ऐसी ट्रेजडी है नीच"[1]

"यथार्थ जब गहराता है और उसके समस्त अनुषंगिक व्यक्त कर लिये जाते हैं, तो कोई न कोई पथ ढूँढ़ लेता है। वह पथ वाम हो या दक्षिण। कहने की जरूरत नहीं कि आज की दुनिया में जैसे चिन्तन की मुख्य सड़क वाम परिपार्श्व से होकर गुजरती है, स्वातन्त्र्योत्तार साठोत्तरी पीढ़ी ने भी युग पथ को अपनाया और इसी पथ से होकर चलने लगी।"[2] इस कथन की पुष्टि सार्त्र की निम्न स्थापना के द्वारा की जा सकती है। "वाम का पक्षधर हुए बिना बौद्धिक होना मुमकिन नहीं है। लेखक होने के बावजूद दक्षिण पंथी व्यक्ति को बुर्ज्वा वर्ग का कार्यकर्त्ता अथवा व्यावहारिक सैद्धान्तिक से अधिक नहीं समझा जा सकता।"[3]

वस्तुत: स्वातन्त्र्योत्तार कवि इसी दृष्टिकोण के तहत भोगे हुए यथार्थ की कविता के माध्यम से अभिव्यक्त करता है।

शोषित एवं उत्पीड़ित वर्गों की पक्षधरता

मार्क्सीय चिन्तनशीलता से प्रभावित कवि सर्वहारा–मजदूर वर्ग के प्रति केवल सहानुभूति ही व्यक्त नहीं करता बल्कि उसे ऊँचे उठाने की चेष्टा करता है। आर्थिक शोषण से उसे मुक्त भी करना चाहता है। प्रगतिशील कवि ने शोषक वृत्ति व उसके शिकार बने समाज का शब्दबद्ध ही नहीं किया वरन् अपनी आर्द्र–संवेदना भी अर्पित की / उसके काव्य में शोषित मानवों और उनके जीवन के प्रति सहानुभूति, शिशुओं के प्रति वत्सल दृष्टि, पूँजीपतियों की हविश का शिकार बनी नारी के प्रति स्नेहिल दृष्टि और सजल दृष्टि उपलब्ध होती है। प्रगतिशील धारा के अनेक कवि प्रत्यक्षत: जन आन्दोलनों में हिस्सेदारी होने तथा निरन्तर विषमताओं व विवशताओं में पिसने के कारण उनका मन पर्याप्त मानवीय, सहानुभूति, एवं संघर्षशील हो गया है। अत: उनके काव्य में संतप्त, उपेक्षित एवं उत्पीड़ित जन समुदाय का चित्रण सजीव हो उठता है। प्रगतिशील कवियों ने शोषण को दो रूपों में व्यक्त

---

1. चांद का मुँह टेढ़ा है
2. स्वातन्त्र्योत्तार हिन्दी कविता : अनन्त मिश्र–पृ 132
3. भूरी-भूरी खाक धूल–पृ. 189

किया है। मानवीय व्यक्तित्व को दूषित वृत्तियों द्वारा शोषत किये जाने का एक तरीका है तो पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा सामाजिक व्यक्ति-मानव के शोषण करने का दूसरा तरीका है। "सूरज के वंशधर" शीर्षक कविता में मुक्तिबोध बीसवीं सदी के जिस हिन्दुस्तान का चित्र खींचते हैं वह अतिभयानक है। शोषण के भयानक जबड़ों ने झोपड़ियाँ गिरा दी हैं। मनुष्य की जिन्दगी धुनी हुई रुई की तरह उड़ती है। टोकरियों में बच्चे बिलख रहे हैं–

"सूखी हुई जांघों की लम्बी-लम्बी अस्थियाँ
हिलाता हुआ चलता है
लंगोटीधारी यह दुबला मेरा हिन्दुस्तान
रास्ते पर बिखरे हुए
चावल के दानों को बीनता है लपक कर
मेरा साँवल इकहरा हिन्दुस्तान।"[1]

मुक्तिबोध ने पूँजीवादी व्यवस्था और सभ्यता से त्रस्त-ध्वस्त होते जीवन का जो करुणार्द्र चित्र प्रस्तुत किया है वे नंगे यथार्थबोध को सूचित करते हैं।

"दूर-दूर मुफलिसी के टूटे-फूटे घरों में
सुनहले चिराग जल उठते हैं
आधी अंधेरी शाम
ललाई में नहलाई जाकर दूरी झुक जाती है
थूहर के झुरमुटों से लसी हुई मेरी इसराह पर।"[2]

प्रगतिशील कवि कृषकों और मजदूरों के प्रति पर्याप्त सहानुभूति शील हो उठता है–

"कुली-मजदूर हैं
बोझ ढोते हैं, खींचते हैं ठेला
धूल-धुँआ-भाप से पड़ता है साबका
थके मांदे जहाँ-तहाँ हो जाते हैं ढेर
सपने में भी सुनते हैं धरती की धड़कन।"[3]

प्रगतिशील कवि अपनी पक्षधरता को भी एलानिया तौर पर स्पष्ट करता है। यहाँ पर पक्षधरता का अर्थ है "वर्गविभक्त मौजूदा समाज व्यवस्था में उनकी ओर से बोलना, उनके अभियानों में सुख-दुख में भागीदारी निभाना जो मजलूम

1. भूरी-भूरी खाक धूल–पृ. 189
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है–पृ. 80
3. नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएँ–पृ. 133

है, यातनाग्रस्त है, शोषित है, सर्वहारा है, दलित और पीड़ित है।"[1] देखिए मार्क्सीय विचारधारा से प्रभावित कवि किस तरह बेझिझक घोषित करता है–

'प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, प्रतिबद्ध हूँ–
बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त–
संकुचित "स्व" की आपाधापी के निषेधार्थ…
अविवेकी भीड़ की "भेड़िया–धसान" के खिलाफ…
अन्ध-बधिर व्यक्तियों को सही राह बतलाने के लिये…
अपने आपको भी "व्यामोह" से बारम्बार उबारने की
खातिर ।"[2]

और त्रिलोचन कहते हैं–

"उस जनपद का कवि हूँ जो भूखा दूखा है,
नंगा है, अनजान है कला–नहीं जानता
कैसी होती है क्या है, वह नहीं मानता।"[3]

केदारनाथ अग्रवाल ने स्वीकार किया है कि हम "धरती और किसानों" के कवि हैं। यह उनकी "हम लेखक हैं" शीर्षक कविता से स्पष्ट होता है–

"हम लेखक हैं
कथाकार हैं
हम जीवन के भाष्यकार हैं
हम कवि हैं जनवादी।
हम स्रष्ट हैं
श्रम शासन के
मुद मंगल के उत्पादन के
हम दृष्टा हितवादी।"[4]

अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रगतिशील कवि की यह "प्रतिबद्धता" उत्पीड़क राजनैतिक व्यवस्था, पूँजीवादी अर्थतन्त्र और सामन्तवाद समाज की रचना के विरुद्ध है। इस संदर्भ में प्रमुख युवा कवि धूमिल की यह कविता द्रष्टव्य है–

"एक आदमी
रोटी बेलता है

---

1. नागार्जुन की चुनी हुयी रचनाएँ–भूमिका
2. नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएं : पृ. 221
3. प्रतिनिधि कविताएं : त्रिलोचन–पृ. 23
4. लोक और आलोक : केदारनाथ अग्रवाल

एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है
वह सिर्फ रोटी से खेलता है
मैं पूछता हूँ—
"यह तीसरा आदमी कौन है ?"
मेरे देश की संसद मौन है।"[1]

उक्त कविता अपने आप बहुत स्पष्ट है। धूमिल ने संसद को लेकर जो सवाल किया है वह पूँजीवादी व्यवस्था को हिलाकर रख देता है। शोषक और शोषित की विभाजक रेखा उनकी कविता में स्पष्ट-सी दिखाई पड़ती है। साथ ही उनकी कविता की जन-प्रतिबद्धता और मानवीय संवेदना वर्ग शत्रु की तलाश करती है।

नारी के प्रति प्रगतिशील कवियों का स्वस्थ दृष्टिकोण रहा है। जैसा कि यह एक स्थापित सत्य है कि नारी को समाज में हमेशा अधम दर्जा ही मिला है। नारी के द्वारा जो कार्य किये जाते हैं हमारे समाज में वास्तविक कार्य नहीं समझे गये। उन्हें घरेलू कार्य की संज्ञा देकर और उन्हें निभाना "नारी का धर्म है" कहकर छुट्टी पायी गयी है। नारी की यह स्थिति सभ्य समाज का परिहास कर रही है। डा. लोहिया ने कहा था—"औरत ! हिन्दुस्तान की औरत। दुनिया के दुखी लोगों में सबसे ज्यादा दुखी, भूखी, मुर्झायी और बीमार है... नारी की रसोई की गुलामी तो वीभत्स है और चूल्हे का धुआँ भयंकर है।"[2] साठ के बाद की कविता में अनेक तथाकथित आन्दोलनों के रूप में जो कविता आयी उसमें "नारी" यौन कुंठाओं की अभिव्यक्ति के लिये लायी गयी है। कवियों ने पुरुष के जीवन का आर्थिक संघर्ष तो देखा है पर बदनसीब नारी के जीवन का यह पक्ष नहीं देखा। वे उसके प्रति केवल अपनी अतृप्त वासना को बाहर निकालते रहे। इसके विपरीत नारी की इस स्थिति को ठोस और वास्तविकता के धरातल पर चरितार्थ करने का प्रयास प्रगतिशील कवियों ने किया है। निश्चित रूप से उनकी 'कविताओं में सौन्दर्य-प्रणय तथा सेक्स आदि प्रसंग रूमानी लिजलिजाहट भावुकता का अनुभव नहीं देते बल्कि इन प्रसंगों को ठोस तथा जीवन्त ढंग से चरितार्थ करते हैं।"[3] प्रगतिशील कवि की दृष्टि में नारी उपेक्षितों की प्रतीक है। जैसे—

1. कल सुनना मुझे—पृ. 33
2. समकालीन कविता का परिप्रेक्ष्य : मदन गुलाटी—पृ. 59 पर उद्धृत
3. वही

'पढ़िए गीता
बनिए सीता
फिर इन सबमें लगा पलीता
किसी मूर्ख की हो परिणीता
निज घरबार बसाइए
होंय कँटीली
आँखें गीली
लकड़ी सीली, तबियत ढीली
घर की सबसे बड़ी पतीली
भरकर भात पसाइए।"[1]

"नारी बिचारी है
पुरुष की मारी है
तन से क्षुधित है
मन से मुदित है
लपक कर-झपक कर
अन्त में चित है।"[2]

कवि ने पहली कविता में "गीता", "सीता" और परिणीता–जैसे पवित्र शब्दों को "पलीता" शब्द लगाकर उड़ा दिया है। कविता के द्वितीय चरण में कँटीली, गीली, सीली, ढीली और पतीली–जैसी चालू तुकबन्दी से नारी की कल्पित मर्यादा के गढ़ को ढहा दिया है। दूसरी कवि ने नारी जाति के प्रति आक्रोश व्यक्त किया है वह निश्चय ही मुखरता के साथ नहीं बल्कि गहरे दुख से मिलकर ही। यह ध्यान देने की बात है कि कवि की अन्तिम पंक्तियों में कोई अश्लीलता नहीं है क्योंकि चोट दूसरी जगह की गयी है। "क्षुधित" और "मुदित" पंत-शब्द कोश के शब्द हैं, "चित" से उनकी तुकबन्दी उनकी भी दिव्यता नष्ट कर देती है। दरअसल प्रगतिशील कविता पर नारी या सेक्स का आतंक नहीं है। हालांकि यह बात सही है कि उसमें अनेक अश्लील शब्दों का प्रयोग हुआ है। कविता में अश्लील शब्दों का प्रयोग सेक्स के आकर्षण में नहीं अपितु उस आकर्षण को तोड़ने के लिये एक बौद्धिक समझदारी के साथ हुआ है–

"मेरे पास उत्तेजित होने के लिये
कुछ भी नहीं है

---

1. सीढ़ियों पर धूप में–रघुवीर सहाय–पृ. 149
2. वही पृ. 172

न कोक शास्त्र की किताबें
न युद्ध की बात
न गद्दार बिस्तर
न टाँगें, न रात
चाँदनी
कुछ भी नहीं।"[1]

अतः स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कविता के केन्द्र में "शोषित-पीड़ित" मनुष्य ही है चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, किसान हो या मजदूर। और स्वातन्त्र्योत्तर कवि इन्हीं का पक्ष लेकर समकालीन सच्चाईयों से साक्षात्कार करते हैं।

क्रांति : व्यवस्था के बुनियादी परिवर्तन की एक अनिवार्य शर्त

"क्रांति" जन-वर्ग-संघर्ष का प्रतिफल है। जब तक परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल क्रांतिकारी भावनाओं को तबदील नहीं किया जा सकता तब तक कोई परिवर्तन या बदलाव संभव नहीं होता है। "क्रांति" शोषण समाज की जड़ों को उखाड़ फेंकती है। प्रत्येक क्रांतिकारी अपनी वर्तमान व्यवस्था की गतिविधियों के प्रति सजग रहता है। वह परम्परा की व्याख्या तथा विश्लेषण करते हुए नयी खोज की ओर पहल करता है। निरन्तर संघर्ष करते हुए जनता के साथ अपने को जोड़ता है। होचिमिन ने इस संदर्भ में कहा है—"क्रांति करना, पुराने समाज को नये समाज में बदलना, एक शानदार जिम्मेदारी है; लेकिन इसके साथ ही यह बेहद भारी जिम्मेदारी है। यह एक लम्बा चलने वाला पेचीदा और कठोर संघर्ष है। जब फासला लम्बा हो पीठ पर भारी बोझ लदा हो तो कोई मजबूत आदमी ही मंजिल तक पहुँचता है। एक क्रांतिकारी अपनी शान पर क्रांतिकारी जिम्मेदारी तभी निभा सकता है जब उसके पास क्रांतिकारी नैतिकता की मजबूत बुनियाद हो।"[2] होचिमिन के उक्त कथन के आलोक में मार्क्सीय चिंतनशीलता से प्रभावित स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कवि की "क्रांति धर्मिता" रेखांकित की जा सकती है।

आजादी प्राप्ति के बाद के वर्षों में भारतीय जन-जीवन का यथार्थ और भी जटिलता के निकट पहुँचने लगा। जीवन की छोटी-छोटी समस्याओं के हल के लिये मनुष्य को अधिक से अधिक संघर्ष करना पड़ा। आजादी को लेकर, जनतंत्र को लेकर, संसद को लेकर यह कहना उचित होगा कि वर्तमान सामाजिक संरचना के प्रति तीव्र मोहभंग के स्वर की ध्वनि ही स्वातन्त्र्योत्तर परिवेश में गुंजित है। व्यवस्था के विरोध के साथ-साथ नये संघर्ष, नये राजनीतिक तेवर के उभरते स्वर

1. संसद से सड़क तक—धूमिल—पृ. 21
2. साहित्य और राजनीति : सं. कुँवरपाल सिंह—पृ. 78

ने देश के कोने-कोने में आम जनता को जाग्रत करने और पूँजीवादी शोषण व्यवस्था को ललकारने में कोई कसर बाकी उठा नहीं रखी। इसे उचित ठहराते हुए नामवर सिंह ने लिखा है–"ऐतिहासिक संदर्भ को देखते हुए भी कविता में आज द्वन्द्व और संघर्ष के मूल्य पर जोर देना अप्रासंगिक नहीं है। आज संघर्ष से घबड़ाने वाले वही होंगे, जो सत्ताधारी वर्ग के साथ यह सोचते हैं कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जीवन में सारे संघर्षों का अन्त हो गया। ऐसे लोग पदोन्नति के लिये अथवा सत्ता की रक्षा के लिये स्वयं चाहे जितना संघर्ष करें, किन्तु दूसरों के लिये संघर्ष को वर्जित मानते हैं–चाहे वह जीवन में हो या कविता में।"[1] निश्चय ही यहाँ कविता में संघर्ष का समर्थन आम जनता की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति को ध्यान में रखकर किया गया है। समाज में एक ओर जनता विषमताओं और विवशताओं से पिसती जा रही हो और दूसरी ओर चंद चालाक लोग केवल सुख और आराम के सरोकार बनते जा रहे हों तो सामाजिक चेतना सम्पन्न रचनाकार का उस समाज के प्रति तिरस्कारपूर्वक रवैया अपनाने में कोई अस्वाभाविकता नहीं है। स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कवि ने इसी कार्य का निर्वाह किया है। अपनी रचनाओं में जन-संघर्ष को केन्द्र स्थान देकर क्रांति धर्मी चेतना का परिचय दिया है। फलतः रचना "सामाजिक और राजनैतिक बदलाव के लिये लड़ी जाने वाली सामूहिक लड़ाई के लिये किया जाने लगा। रचनाकार अब समाज से कटा, स्व-केन्द्रित एवं कुंठित प्राणी न रह गया। उसने संघर्षशील भूमिका अपनाई।"[2] भविष्य चेतना की ओर संकेत करते हुए कवि अपनी "क्रांति धर्मिता" का परिचय देता है–"हर लम्बे दिन के बाद जब लौटकर आता हूँ तो कुछ देर तक कमरे के दानव से लड़ना पड़ता है। पराजित कोई नहीं होता। पर समझौता भी कोई नहीं करता। शायद हम दोनों को यह विश्वास है कि हमारे बीच एक तीसरा भी है जो अजन्मा है। कौन जाने यह संघर्ष उसी के लिये हो।"[3]

स्वातन्त्र्योत्तर परिवेश में कवियों ने केवल आम आदमी को पिसता हुआ ही नहीं देखा है बल्कि उसके सपनों को द्वन्द्वात्मक संघर्ष की ऐतिहासिक चेतना के बीच लक्षित भी किया है उस क्रम में कवि जब परिवर्तनों के लम्बे इतिहास में आदमी को परखने की चेष्टा करता है तो उसे अपने समय के साथ उलझते, जूझते, और विद्रोह होते पाता है। इन्हीं चीजों की अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्योत्तर कविता में हुई है। कविता की यह अभिव्यक्ति केवल सामरिक और असंतोष की नहीं है अपितु सामाजिक बदलाव और सामूहिक मुक्ति का आग्रह भी करती है। जब कवि

1. कविता के नये प्रतिमान–पृ. 48
2. युग परिबोध–सितम्बर–1976–पृ. 19
3. तीसरा सप्तक : केदारनाथ सिंह का वक्तव्य।

आग की ओर इशारा करता है तो आदमी सोचने में मजबूर हो जाता है–

"आप विश्वास करें
मैं कविता नहीं कर रहा
सिर्फ आग की ओर इशारा कर रहा हूँ
वह पक रही है
और आप देखेंगे–यह भूख के बारे में
आग का बयान है
जो दीवारों पर लिखा जा रहा है।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में "रोटी" की सोच ही केन्द्र में है। जबकि 'रोटी ही जिन्दगी का सबसे बड़ा तर्क" है तो उसकी आवश्यक ही नहीं अनिवार्य वस्तु आग है। लेकिन स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कविता में इस "आग" का प्रयोग किसी निश्चित पक्ष को जलाकर राख करने के लिये किया गया है जिसमें अदम्य जिजिविषा धधकती हुई दिखाई पड़ती है–जैसे "उसने कहा–लिखो–"आग"/दिन भर के थके-माँदे चंद अनपढ़ खेतिहार मजदूरों ने/सिर झुका, पहली बार/अटक अटक कर/स्नेह पर खड़िया से लिखा–"आग"[2] इसके लेखन के पीछे एक उद्देश्य है क्योंकि–"आग सबकी होती है/सबको एक करती है।"[3]

निश्चित रूप से यहाँ "आग" व्यवस्था के बुनियादी परिवर्तन की अनिवार्य शर्त "क्रांति" की ओर ही अग्रसर है। स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कविता में इसका व्यापक प्रयोग हुआ है। सामाजिक चेतना से लैस पहली पीढ़ी के कवि–नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, शमशेर सिंह और युवापीढ़ी के कवि–केदारनाथ सिंह, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, धूमिल आदि की रचनाओं में क्रांतिधर्मी चेतना लक्षित की जा सकती है।

मुक्तिबोध की कविता में "क्रांति" अनेक रूपों में व्यक्त हुई है। "अँधेरे में" शीर्षक कविता में कवि सोचते हैं कि किस तरह सीने पर चढ़ी हुई चट्टानें उड़ेंगी–

"किस तरह से आग भभकेगी,
उड़ेंगी किस तरह भक्–से
हमारे वक्ष पर लेटी हुई
विकराल चट्टानें।"[4]

और "क्रांति" कवि के लिये जरूरी लगती है–

---

1. जमीन पक रही है : केदारनाथ सिंह–पृ. 25
2. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
3. जंगल का दर्द : सक्सेना
4. चाँद का मुँह टेढ़ा है–पृ. 151

"बिखराकर नीले-नीले स्फुलिंग समूह
वह बनती है अकस्मात
विराट मनुष्य रूप
नहीं जान पाता कि मुझ में समा गयी कि
उसमें समा गया मैं।
सुनहली काँपती-सी सिर्फ एक लहर रह जाती है
कि जिसे क्रांति कहते हैं
कि कहते हैं जन क्रांति।"[1]

क्रांति की अनिवार्यता को सूचित करते हुए कवि आगे लिखते हैं–

"लावा कहकर निन्दा करके
कोई उसको रोक न सकते
वह भवितव्य अटल है
अँधियारे में झोंक न सकते।"[2]

यह स्पष्ट है कि मुक्तिबोध की कविता में "क्रांति" का स्वर बहुत गहरा है। इस सम्बन्ध में यह कथन सही प्रतीत होता है–"मुक्तिबोध की विश्व दृष्टि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी है और जीवनादर्श है सामाजिक आर्थिक परिवर्तन और उसकी वाहक जनक्रांति। इसी आदर्श के अनुकूल उनका काव्य जन चरित्री और रक्तप्लावित है।"[3]

नागार्जुन अपने व्यंग्य के सहारे धोखाधड़ी, भ्रष्टाचार, पाखंड, स्वार्थ, लोभ और ईर्ष्या आदि भावों को समाप्त करने के लिये "क्रांति" उत्पन्न करते हैं। उनका आक्रोश काफी पैनी और चुभने वाली शैली में व्यक्त हुआ है। शोषित-उत्पीड़ित तबकों की वकालत करते हुए जब वे इस प्रकार ललकारते हैं तो पूरा समाज हिलने लगता है :

"उसका मुक्ति पर्व कब होगा ?
कब होगी उसकी दीवाली ?
चमकेगी उसके ललाट पर
कब ताजे कुंकुम की लाली ?"[4]

नागार्जुन का यह प्रश्न हम सबसे है, समाज से है और इस शासन व्यवस्था से है। इनके शोषण का अन्त कब होगा। आगे लिखते हैं–

1. भूरी भूरी खाक धूल–पृ. 192
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है–पृ. 109–110
3. नयी कविता की चेतना : जगदीश कुमार–पृ. 76
4. नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएँ भाग--2--पृ. 233

"सड़ी लाश हैं जमींदारियाँ–इनको हम दफनायेंगे,
गाँव-गाँव पांतर-पांतर को हम भू-स्वर्ग बनायेंगे"[1]

और सर्वहारा द्वारा "क्रांति" करने का आह्वान इस प्रकार करते हैं–

"महाश्वेता दानवी कवल से सर्वांशतः अब मुक्त होगा राष्ट्र
+ + +
मशीनों पर और श्रम पर, उपज के सब साधनों पर
सर्वहारा स्वयं अपना करेगा अधिकार स्थापित
दूहकर वह आँत जोंकों की, मिटा देगा धरा की प्यास।"[2]

दहशत भरे वातावरण में अन्धकार से लड़ने की पुरजोर कोशिश करते हुए दीप के समान कवि क्रांति किरणों को प्रसारित करते हैं–

"अभी और भी विप्लव होंगे और बहेगा खून
तरुण शक्ति तोड़ेगी सौ-सौ नियम और कानून
महाक्रांति के प्रबल वह्नि में शोषित होगी सत्ता
अरुणायी से दमक उठेंगे ढाका और कलकत्ता।"[3]

और प्रत्येक शिशु सूरमा और शैदा होने की कल्पना करते हैं–

"खुखरी है, बम है, असि भी है
गंड़ासा–भाला प्रधान है
दिलने कहा-दलित माओं के
सब बच्चे अब बागी होंगे
अग्नि पुत्र होंगे वे, अन्तिम
विप्लव में सहभागी होंगे।"[4]

अतः अस्त्र-शस्त्र के ये समूह प्रतिहिंसा सूचक हैं। इनके द्वारा शोषण व्यवस्था और उनके हितों की रक्षा करने वाली सभी इकाईयों का नामोनिशां मिटेगा। इस विप्लव के कवि केवल समर्थन ही नहीं करते बल्कि उसमें भागीदार भी होते हैं।

नागार्जुन जनता के प्रतिबद्ध रचनाकार हैं। उनकी सर्जना सामंती-पूँजीवादी व्यवस्था के नरक को उसके समूचे यथार्थ के साथ उद्घाटित करती है और एक नयी जमीन रचती है।

केदारनाथ अग्रवाल की कविता भी प्रगतिशील रचना संसार को ठोस आधार प्रदान करती है। केदारनाथ अग्रवाल स्वभावतः कोमल भावनाओं के कवि हैं।

---

1. नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएँ भाग–2–पृ. 59
2. वही–पृ. 56
3. आये दिन बहार के–नागार्जुन
4. नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएँ–भाग–दो–पृ. 246

फिर भी उनमें क्रांति धर्मी चेतना की कोई कमी नहीं है। अमानवीय व्यवस्था के प्रति खीझ उठते हैं। मिसाल के लिए उनकी यह कविता द्रष्टव्य है–

"मारो-मारो हँसिया
हिंसा और अहिंसा क्या है
जीवन से बढ़ हिंसा क्या है।"[1]

अन्य प्रगतिशील कवियों की भाँति त्रिलोचन ने भी पूँजीवादी और परम्परागत विचारधारा को समाज की वर्तमान स्थिति के प्रति जिम्मेदार बताया है। उसके इतिहास का वर्णन करते हुए कवि ने उसे व्यक्तिवादी माना है। नवीन समाज की स्थापना शोषित वर्ग की जागरूक चेतना से ही सम्भव है। कवि ने कहा है–

"पूँजीवाद जिस डाल पर बैठता है
वही डाल काटता है, सर्वनाश करता है–
स्वय मेव
अतुलित धन–राशि पर
साँप के समान जब कुछ पूँजीपति
अपने विष बिल का आतंक फैलाते हुए
शेष रह जायेंगे।"[2]

प्रगतिशील कवि की दृष्टि में मौजूदा व्यवस्था का वर्ग चरित्र बिलकुल स्पष्ट है। वर्तमान सामाजिक संरचना में कोई खास परिवर्तन या प्रगति का अनुमान लगाना नामुमकीन है। इस संदर्भ में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि पुरानी पीढ़ी के कवियों की तुलना में युवा पीढ़ी के कवियों की "क्रांति" का स्वरूप उग्र और अधिक हिंसात्मक है जिसे युग की देन ही समझना श्रेयस्कर होगा। क्योंकि शोषक-वर्ग मानवता को उस मुकाम पर ला खड़ा करता है जहाँ से केवल उसके प्रति नफरत ही पैदा होती है। उस नफरत में सर्वहारा, शोषक वर्ग का समूल नाश कर सकता है, जैसा कि धूमिल की यह प्रतिक्रिया है–

"खबरदार !
उसने तुम्हारे परिवार को
नफरत के उस मुकाम पर ला खड़ा किया है
कि कल तुम्हारा सबसे छोटा लड़का भी
तुम्हारे पड़ोसी का गला
अचानक,
अपनी स्लेट से काट सकता है।"[3]

---

1. युग की गंगा–पृ. 56
2. धरती–पृ. 33
3. संसद से सड़क तक–पृ. 69

यही नहीं इससे आगे बढ़कर उसका अन्त करने के लिए पहल करता है–

"एक आदमी
दूसरे आदमी की गरदन
धड़ से
अलग कर देता है
जैसे एक मिस्त्री बल्टू से
नट अलग करता है
तुम कहते हो--यह हत्या हो रही है
मैं कहता हूँ--मैकनिजम टूट रहा है।"[1]

उसका यह निष्कर्ष वर्तमान शोषण तन्त्र को जड़ से उखाड़ देने का संकल्प पैदा करता है। अन्ततः "सामाजिक यथार्थ और उसमें भी एक राह खोजती कविताएँ केवल समस्याएँ–जटिल समस्याएँ और मिटी हुई नियति का चित्रण न कर एक निश्चित लक्ष्य की ओर संकेत करती हैं।"[2] और आर्थिक सांस्कृतिक मोर्चे पर एक व्यवस्थित संघर्ष प्रस्तुत करती हैं तथा वर्ण-वर्ग रहित समाज के लिये पहल करती हैं।

समूहगत चेतना

प्रगतिशील कवि कविता को व्यक्ति प्रयास में स्वीकार करते हुए भी उसे एक सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं। मुक्तिबोध ने लिखा है–"काव्य रचना केवल व्यक्तिगत मनो-वैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है और फिर भी एक आत्मिक प्रयास है। उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं, वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज की या वर्ग की देन हैं।"[3] इस सम्बन्ध में लब्ध प्रतिष्ठ प्रगतिशील कवि त्रिलोचन का यह कथन उल्लेखनीय है–"कवि स्वयं जनता का ही व्यक्ति होता है। उसकी रचना में जन-जीवन आता ही है। यदि कोई कवि इससे अलग दिखाई दे, तो वह उस जनता का कवि नहीं है, जो उसके बीच है वह जनता के जीवन को समस्याओं सहित समझने वाला ही कवि होता है। और कवि धर्म का निर्वाह करना ही कर्तव्य के प्रति ईमानदार होना है। जनता का जीवन यदि ह्रास की ओर है, तो इस ह्रास का चित्रण भी लेखन को महान बना सकता है।"[4] अन्तः प्रगतिशील कवि साहित्य को सामाजिक कर्म मानते हैं।[5] जो रचनाकार सार्थकता

1. कल सुनना मुझे--पृ. 20
2. स्वातन्त्र्योत्तर कविता–डा. अनन्त मिश्र--पृ. 144
3. जनवादी साहित्य के दस वर्ष--पृ. 173
4. इन्द्रप्रस्थ भारती, अप्रैल–जून--1991–पृ. 274
5. वही--पृ. 281

और स्वायत्तता की बात उठाते हैं, उनकी अपनी सीमाएँ हैं। बहरहाल, "जनता के सम्पर्क की कमी ही रचनाकार को रूपवाद की ओर ले जाती है, जनता की चित्त-वृत्तियों से अपरिचय ही विशिष्ट अनुभूति लोक की रचना करता है।"[1] समूहगत चेतना से लैस कवि अपनी रचनाओं के केन्द्र में विराट जन समूह को रखते हैं जिसमें कई तबकों के लोग हैं जो आमूल सामाजिक परिवर्तन चाहते हैं। मुक्तिबोध की यह कविता द्रष्टव्य है–

"याद रखो
कभी अकेले में मुक्ति नहीं मिलती
यदि वह है तो सबके ही साथ है।"[2]

विश्व इतिहास साक्षी है कि जनता एकजुट होकर जब विद्रोह करती है, तो निश्चित रूप से लक्ष्य को प्राप्त करती है। स्वातन्त्र्योत्तर कवि का जनता के प्रति अटूट विश्वास है। जनता स्वयं अपना इतिहास रचती है। जनता के गुणों से ही भावी का उद्‌भव होता है। मुक्तिबोध की दृष्टि में जनता न भीड़ है न भेड़ है वह वह एक महान शक्ति है-

"वे लोग नहीं समझे कि सुनहले मैदानों
के खुले खुलेपन के बद्ध भागते छोर
के पीछे भाग रहे पैरों जाँघों में गरम सुनहला खून
बिजलियों का-सा है
यह जीवन गहरा है, ऊँचा है, प्यासा है
वह अति साधारण फटेहाल ही क्यों न रहे
पर, उसके अपने पास दार्शनिक कविता-सी
जो त्वरा-भरे जीवन के धुरा-गीत की यात्रा-सी
जीवन्त मान्यता-सी
जिसके अनुरोधों द्वारा जगत-चक्र की गति
अपने अनुसार मोड़ना चाहता है।"[3]

परवर्ती पीढ़ी ने उत्तराधिकार में मुक्तिबोध की समूहगत चेतना को प्राप्त किया और जीवन के यथार्थ से सीधा साक्षात्कार करने लगी। शिवकुमार मिश्र लिखते हैं–"नयी पीढ़ी ने उत्तराधिकार में उनसे जुझारू संघर्ष की प्रेरणा प्राप्त की, आस्था प्राप्त की, यह विश्वास प्राप्त किया कि समाज को बदला जाना चाहिए, उसे बदला जा सकता है, शुतुमुर्ग की तरह बालू में मुँह गड़ाकर नहीं जिन्दगी के

1. दर्शन, साहित्य और समाज–पृ. 70
2. मुक्तिबोध–चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ. 242
3. भूरी-भूरी खाक धूल–पृ. 120

यथार्थ से सीधे आँख मिलाकर, एक जुट संघर्ष के द्वारा उसे आमूल बदलने का अभियान चलाकर।"[1]

लोक जीवन के कवि नागार्जुन अपनी कविता में उस अभिजात मानसिकता का विरोध करते हैं जो आम आदमी को तिरस्कृत करती है। वे इसी अर्थ में कवि की पक्षधरता को रेखांकित करते हैं–

"इतर साधारण जनों से अलहदा होकर रहो मत,
कलाधर या रचयिता होना नहीं पर्याप्त है
पक्षधर की भूमिका धारण करो……
विजयिनी जनवाहिनी का पक्षधर होना पड़ेगा।"[2]

वस्तुत: "लोक जीवन और लोकमन को जितनी आत्मीयता से नागार्जुन ने व्यक्त किया है–किसी दूसरे आधुनिक हिन्दी कवि ने नहीं।"[3]

केदारनाथ अग्रवाल जो प्रगतिवादी काव्यांदोलन के सार्थक हस्ताक्षर हैं, अपनी अनेक कविताओं में–("सबके लिये", "कटुई का गीत", "हथौड़े का गीत" आदि) मेहनतकश जनता का पक्ष लेते हैं। और सामान्य जन में साहस भरने की कोशिश करके अपनी समूहगत चेतना का परिचय देते हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर कवि जिस जमीन पर खड़े होकर विशाल जन समुदाय को सम्बोधित करते हैं और उसका वर्णन करते हैं वह देश के साधारण जन की अपनी जमीन है और उसकी अपनी मानसिकता है। साधारण जन की अनुभूतियाँ ही कवि की अपनी अनुभूतियाँ हैं कवि संघर्षरत जनता को कभी भी अल्पज्ञ नहीं मानता बल्कि उसके जीवन में गहराई से प्रवेश करता है। और समूह को साहसिकता प्रदान करता है ताकि स्वस्थ समाज निर्मित हो सके, जिसमें मानवीयता कायम हो सके। इन्हीं आशाओं को केन्द्र में रखने वाली धूमिल की यह कविता उपलब्ध है–

"मेरी कविता इस तरह अकेले को
सामूहिकता देती है और समूह को साहसिकता।
इस तरह कविता में शब्दों के जरिये एक कवि
अपने वर्ग के आदमी को समूह की साहसिकता से
भरता है जबकि शस्त्र अपने वर्ग-शत्रु को
समूह से विच्छिन्न करता है।……"[4]

स्वातन्त्र्योत्तर कविता की अनुभूतियाँ बहुत गहरी हैं। वह देश की साधारण

---

1. दर्शन, साहित्य और समाज–पृ. 71
2. नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएँ–पृ. 80
3. समकालीन हिन्दी कविता : विश्वनाथ प्रसाद तिवारी–पृ. 65
4. कल सुनना मुझे : धूमिल–पृ. 66–67

जनता की प्रगतिकामी, ऊर्जस्वित और प्राणमयी चेतना से पूरी तरह एकात्म करने वाली है। उन्हीं के जीवन से रस लेती है और प्राणशक्ति भी अर्जित करती है। अतः स्वातन्त्र्योत्तर परिवेश में कवि व्यावहारिक स्तर पर अधिक सक्रिय है।

राजनीति का सरोकार

"हमारे समय में मानव नियति अपने को राजनीति की शब्दावली में प्रकट करती है।"[1] जब कविता समकालीन मनुष्य की हालत से सीधा साक्षात्कार करती है तो वह राजनीति से दो-चार हुए बिना आगे नहीं बढ़ सकती है। दरअसल, आज की दुनिया में राजनीति का दबाव इतना आक्रामक और तीव्र होता जा रहा है कि कोई भी व्यक्ति उससे दूर नहीं रह सकता है। कवि जो कि इसी दुनिया में रहता है, भी इससे छुटकारा नहीं पा सकता। बदलते हुए सामाजिक संदर्भों में कविता में राजनीति का होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। कविता और राजनीति को लेकर काफी चर्चा हो चुकी है। स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कविता में राजनीतिक सरोकार को मूल्यांकित करने से पहले संक्षेप में इस वर्ग विभक्त समाज में कविता और राजनीति के बीच क्या सम्बन्ध हैं, जान लेना उचित होगा। यह इसलिए जरूरी है कि आज भी कविता की सार्थकता को लेकर सवाल किये जा रहे हैं। आज हम एक ऐसे दौर से गुजर रहे हैं कि कविता ही नहीं पूरी कला ही "क्या" और "क्यों" के स्तर पर उतर आयी है। और जब कविता और राजनीति के बीच के सम्बन्ध पर उँगली उठायी जाती है तो टुच्च होने पर भी जीवन्त सवाल अवश्य है। अतः कविता और राजनीति के बीच के सम्बन्ध को देखना अप्रासंगिक नहीं होगा।

कविता और राजनीति की परिचर्या में भाग लेते हुए श्रीकान्त वर्मा ने अपने विचार को इस प्रकार व्यक्त किया है–"राजनीतिक कविता का आधार अनुभव नहीं, विचार होता है। वह यह तो किसी विचार को प्रतिष्ठित करती है या किसी प्रतिष्ठित कविता का विचार के स्तर पर विरोध करती है। दोनों ही सूरतों में वह विचार का समर्थन करती है और विचार के समर्थन के जरिये अनुभव को झुठलाती है।"[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रतिक्रियावादी अनुभववाद कविता में राजनीति को नकारता है। इस सम्बन्ध में अज्ञेय राजनीति से प्रभावित कविता को हीनतर कविता मानते हैं–"पहले राजनीतिक कविता काव्य के अनेक प्रकारों में से एक प्रकार भर मानी जाती थी, वह भी एक हीनतर प्रकार। प्रगतिवाद ने उसे एक मात्र प्रकार माना और बाकी सब कविता रद्दी कर दी।"[3] अशोक वाजपेयी

1. फिलहाल--पृ. 120 पर अशोक वाजपेयी द्वारा उद्धृत टॉमस मान का कथन
2. आलोचना–जुलाई–सितम्बर–1968–पृ. 18
3. वही–पृ. 26

कहते हैं–"राजनीति का दबाव इतना आक्रामक और तीव्र होता गया है कि उससे बचना वयस्क कविता के लिए मुमकीन नहीं रह गया है। समकालीन सच्चाई राज-नीतिक कर्म, इच्छा, तथ्यों से उलझी हुई सच्चाई है और बिना राजनीति से दो-चार हुए उसका साक्षात्कार अधूरा और अप्रामाणिक रहेगा। राजनीति से सुरक्षित संसार इच्छित संसार है अतीत जीवी या भविष्यत् संसार है, समकालीन संसार नहीं।"[1] अशोक वाजपेयी कविता और राजनीति के बीच के सम्बन्ध को एक तरफ स्वीकार करते हैं तो दूसरी तरफ किसी सक्रिय संगठन एवं विचारधारा से परे मानते हैं। अपने समय के युवा कवियों के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है–"इन कवियों की राजनीति को किसी स्पष्ट विचार-प्रणाली या दलीय पक्षधरता से जोड़ना मुमकीन हो भी तो गलत जरूर होगा। उनकी कविता की स्वतन्त्रता और वयस्कता के लिए यह तथ्य काफी हदतक जिम्मेदार है कि वे किसी विशिष्ट और संकरी विचारधारा से, उसकी चौखट-सच्चाइयों से बंदी सीमित नहीं है।"[2] इस प्रकार के चिंतन के पीछे पूँजीवादी मानसिक चेतना का ही परिचय मिलता है जो इस बात पर बल देती है कि कविता व्यक्तिगत सम्पत्ति और एकान्त–साधना है और उसे सामाजिक परिवर्तन में दखल नहीं देना है। अतः राजनीति की पक्षधरता महत्वहीन है। इसके विपरीत मुक्तिबोध का यह विचार है–"भले ही कोई लेखक वैचारिक दृष्टि से बाह्य आग्रह स्वीकार कर ले, जब तक उस आग्रह के तत्वों का आभ्यन्तीकरण नहीं होता, जब तक अन्तर्जगत् के तत्वों में उसका रंग नहीं चढ़ जाता, जब तक वह हृदय में तड़पते हुए जीवनानुभव का अनुभव नहीं बन जाता, तब तक उस आग्रह के अनुरूप रचित साहित्य निष्प्राण और कृत्रिम ही रहेगा।"[3] मुक्तिबोध ठोस विचारधारा के आधार पर जिन्दगी को जानने, समझने और विश्लेषित करने का व्यापक दृष्टिकोण देते हैं।

राजनीति से परे कविताओं की दुनिया का बुनियादी और प्राथमिक सरोकार समकालीन मनुष्य नहीं, सार्थकता और स्वायत्तता की खोज तथा समकालीन ब्यौरों से भरी-पूरी दुनिया नहीं, वरन् बहुत हद तक पारम्परिक और लगभग शाश्वत तत्वों का सुगठित संसार होता है, जबकि राजनैतिक चेतना से लैस कविता का मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व, संघर्ष और उम्मीद का भयावह जटिल संसार होता है, जहाँ विवेक शाश्वत तत्वों से मंद तनाव की स्थिति में रहकर नहीं उभरता बल्कि हमारे समय की सच्चाइयों, षडयन्त्रों, दबावों से उलझता, पद दलित होता और मनुष्य की अपराजेय उम्मीद से विन्यस्त होता है। "जीवन है राजनीति, राजनीति है

1. फिलहाल–अशोक वाजपेयी–पृ. 123
2. वही–पृ. 127
3. नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र–मुक्तिबोध–पृ. 88

जीवन।"[1] वर्ग विभक्त समाज में राजनीति से परे जीवन की कल्पना गहरी नींद का एक सुन्दर स्वप्न मात्र है। वर्तमान समाज में प्रत्येक चीज का अपना वर्ग स्वरूप है। और राजनीति तो–"चाहे वह क्रांतिकारी हो अथवा प्रतिक्रांतिकारी, वस्तुतः विभिन्न वर्गों के बीच का एक संघर्ष है सिर्फ कुछ व्यक्तियों की कार्यवाही नहीं।"[2] इसी दृष्टिकोण के तहत स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कविता में राजनीति तात्कालिक परिदृश्य का अंग बनकर उभरती है।

जाहिर है कि प्रगतिवादी कवियों ने कविता को "व्यक्ति सम्पत्ति" न मान कर "सामाजिक कर्म" के रूप में स्वीकार किया है। प्रगतिवादी आन्दोलन से लेकर आज तक बड़ी संख्या में राजनीतिक कविताएँ लिखी गयी हैं। निराला, पंत और नयी कविता के दौर में मुक्तिबोध जैसे संघर्षशील कवियों ने अपनी राजनीतिक चेतना को कविता के माध्यम से व्यक्त किया है। सन् साठ के बाद की कविता तो वर्तमान व्यवस्था को अस्वीकृत करने वाली कविता है। उसका मुख्य स्वर व्यवस्था का विरोध करना है।

कृष्ण दत्त पालीवाल लिखते हैं–"समकालीन कविता में समसामयिक राजनीतिक परिवेश का संकट अनेक रूपों और कोणों के साथ उपस्थित मिलता है। राजनीति ऐसी उथल-पुथल से गुजर कर भयावह होती गयी है कि कोई भी जागरूक और संवेदनशील व्यक्ति, मानव-भविष्य के बारे में चिन्तित हुए बगैर नहीं रह सकता। अमानवीय तन्त्रों की व्यक्तिवादिता और सर्वग्रासी विनाश की छाप ने मानवीय सर्जनात्मक क्षमता को, पुराने रागात्मक सम्बन्धों को भीतर-बाहर से बदला है। जीवन में हर स्तर पर आडम्बर, झूठ, ढोंग, अवसरवादिता भ्रष्टाचार की आँधी में ईमानदार आदमी पिस गया है। मुक्तिबोध के शब्दों में "पिस गया वह दो पाटों बीच। ऐसी ट्रजडी है नीच।" इस नीच ट्रजडी से आहत संवेदन ज्ञान में तनाव-खिंचाव का दर्द व्याप्त है। इसी परिस्थिति के कारण समकालीन कविता एक खास ढंग की राजनीतिक कविता होती गयी।"[3] अतः यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि स्वातन्त्र्योत्तर कविता मूलतः राजनीतिक कविता है। स्वातन्त्र्योत्तर कवि अपनी कविता के माध्यम से भारत का--आजाद भारत का सही चेहरा प्रस्तुत करना चाहते हैं। चाहे वह "अँधेरे में", "पटकथा" में हो या "आत्म हत्या के विरुद्ध" कविता में हो। उसने भारतीय जनतन्त्र की स्थितियों से साक्षात्कार करते हुए उस तीसरे आदमी जो "न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है, वह सिर्फ रोटी से खेलता है," को पहचानने का प्रयास ज़रूर किया है।

1. नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएँ–भाग–दो–पृ. 106
2. पहल–10–11, (मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र अंक)–पृ. 22
3. इन्द्रप्रस्थ भारती--अप्रैल जून--1991--पृ. 303

दरअसल स्वातन्त्र्योत्तर कविता में युगीन संघर्ष, जन-जन के अन्तःकरण और भौतिक मानसिक संघर्ष का प्रतिरूप परिलक्षित है। वह जन समाज को सुखी और खुशहाल देखना चाहता है–

> "समस्या एक–
> मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
> सभी मानव
> सुखी, सुन्दर व शोषण मुक्त
> कब होंगे ?"[1]

इसी चाहत के साथ स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कविता जीवन, समाज और जन-जीवन की भीतरी पहलुओं तक का "एक्सरे" प्रस्तुत करती है। मानव समाज से सम्बन्धित हर संदर्भ, हर घटना, हर पीड़ा हरेक संगत-असंगत स्थिति की जाँच-पड़ताल प्रस्तुत करती है। अधिकांश कविताएँ वर्तमान राजनीतिक परिवेश की भयावह, दंशक और अभिशप्त जीवन स्थितियों की तीखी व्यंजनाएँ हैं। उनमें जन-जन की पीड़ा का इतिहास छिपा हुआ है।

वास्तव में प्रगतिशील कविता का दूसरा दौर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से पतनशील माहौल में प्रारम्भ होता है। भारतीय समाज पर पूँजीवादी व्यवस्था की पकड़ और भी दृढ़ होती जा रही थी। आजादी के बाद जन-जीवन की जो स्थिति उत्पन्न हुई थी, वह उन कल्पनाओं से ठीक उल्टी थी जो आजादी की लड़ाई के दौरान काँग्रेसी नेतृत्व द्वारा भारतीय जनता के सामने पेश की गयी थी।

आजादी और आजाद भारत के स्वर्णिम भविष्य के प्रति आजादी प्राप्त होने से पहले जो कल्पनाएँ की गयी थीं, आजादी प्राप्ति के कुछ ही वर्षों के बाद वे सब कल्पित भ्रम में परिवर्तित हुयीं। जनता की आशाएँ एवं आकांक्षाएँ निरर्थक साबित होने लगीं। आजादी के बाद भी देश के तथा कथित कर्णधारों ने वही नीतियाँ अपनायीं जो आजादी के पहले अपनायी गयी थीं। भूमि सुधार कार्यक्रम प्रकाश में तो लाये गये थे पर जमीन को मजदूर व गरीब किसानों में न बाँट कर जमींदारों के हाथों में और भी सुरक्षित किया गया। प्रगतिशील मुखौटा पहन कर अनेक योजनाएँ घोषित की गयीं, समाजवाद का नारा बड़े पैमाने पर दिया गया। लेकिन वस्तुस्थिति कुछ और है। उन्हीं लोगों को रियायतें दी जाने लगीं, जो कई पीढ़ियों से शोषण करते आ रहे थे। "बात भर है रामराज की रावण के हैं काम"। इसका परिणाम यह हुआ है कि पूँजीपतियों की पूँजी अनाप-शनाप बढ़ने लगी और गरीब और भी गरीबतर होता गया। निष्कर्षतः "आम आदमी के लिये दो रोटियों के

1. मुक्तिबोध रचनावली--भाग--दो--पृ. 242--243

सीमित लक्ष्य तक जीवन निर्वाह करना और अपने अस्तित्व की पहचान बनाये रखना दूभर हो गया था। वह स्वयं को बड़ा असुरक्षित, बेसहारा, दिशा हीन-सा, हाथ में राशन-कार्ड थामें, दीवारों पर टंगे पोस्टर अथवा सलीब पर लटके भूखे मसीहा की तरह हवा में झूलता हुआ जा रहा था।"[1]

फलतः सही रचनाकार अपनी रचना का इस्तेमाल वैयक्तिक महत्वाकांक्षा अथवा बेतुके नारों की बजाय "सामाजिक और राजनैतिक बदलाव के लिये लड़ी जाने वाली सामूहिक लड़ाई के लिये किया जाने लगा। अब समाज से कटा, स्व-केन्द्रित एवं कुंठित प्राणी न रह गया। उसने संघर्षशील भूमिका अपनायी।"[2] उन तमाम शास्त्र व तन्त्र की इकाइयों, कार्यवाहियों और राजनीतिक-सामाजिक अव-धारणाओं पर तीव्र आक्रमण करने लगा जो सत्ताधारी वर्ग और उनके वर्गीय हितों से जुड़े हुए हैं। एक नागरिक की स्वाधीनता, संसदीय जनतन्त्र, बहुदलीय प्रणाली, बालिग मताधिकार स्वाधीन भारत में साधारण जन की स्थिति को उसकी संपूर्ण विसंगतियों, विडम्बनाओं और व्यर्थताओं के साथ उघार कर दिखाता है। जब हमारी स्वाधीनता का यह हाल है–"स्वाधीन देश में चौंकते हैं लोग/एक स्वाधीन व्यक्ति से"[3] तो आजादी के सही अर्थ की खोज करने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। क्योंकि आजादी के बीस बरस बीत जाने पर भी समाज में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है। बल्कि शोषण तन्त्र में जनता पिसती ही जा रही है। "भव्य ललाट की नासिका में से बह रहा खून न जाने कब से।" अतः धूमिल की यह कविता आजादी की खबर लेती है–

"बीस साल बाद इस शरीर में
सुनसान गलियों से चोरों की तरह-
गुजरते हुए
अपने-आप से सवाल करता हूँ–
क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है
जिन्हें एक पहिया ढोता है
या इसका कोई खास मतलब होता है।"[4]

जहाँ एक ओर महँगाई और बेरोजगारी आम जनता को आतंकित कर रही थी वहीं दूसरी ओर भाई भतीजावाद और भ्रष्टाचार कुव्यवस्था के साथ ताण्डव नृत्य कर रहे थे। इसी यथार्थ की सही अभिव्यक्ति कविता में हुई है। बीस साल

1. युगपरिबोध, जनवरी–मई, 1977–पृ. 7
2. आलोचना–पूर्णांक, 66–पृ. 2
3. चाँद का मुँह टेढ़ा है–पृ. 268
4. संसद से सड़क तक–पृ. 10

की आजादी भुगतने के बाद जब कवि अपनी प्रतिक्रिया इस प्रकार व्यक्त करते हैं तो भ्रष्ट प्रशासन की कारनामें कितनी असह्य थीं इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है–

"बीस बरस बीत गये
लालस मनुष्य की तिलमिल कर मिट गयी
+ + +
टूटते टूटते हुए
जिस जगह आकर विश्वास हो जायेगा कि
बीस साल धोखा दिया गया
वहीं मुझे फिर कहा जायेगा विश्वास करने को
पूछेगा संसद में भोला भाला मन्त्री
मामला बताओ हम कार्रवाई करेंगे
हाथ-हाथ करता हुआ हाँ-हाँ करता हुआ हे-हें करता
हुआ।"[1]

और

"दर–असल
अपना वहीं है
वहीं रहेंगे, हाँ, वही
न बदले हैं, न बदलेंगे
बदलते हुए दीखेंगे
फिर भी कुछ नहीं सीखेंगे
शपथ लेंगे, फिर साल–दर साल रोएँगे।"[2]

यह कोई अस्वाभाविक प्रतिक्रिया नहीं है। आजाद भारत के "स्वस्थ समाज" की कल्पना में स्वातन्त्र्योत्तर कविता के कवि हर चीज को बहुत ध्यान से परखते हैं। उनकी कविता शोषण तन्त्र की शिकार मानवता के उज्जवल भविष्य की कामना के साथ जद्दोजिहाद भी करती है। यथा–

"मैंने इन्तजार किया–
अब कोई बच्चा
भूखा रह कर स्कूल नहीं जायेगा
अब कोई छत बारिश में
नहीं टपकेगी।

1. आत्म हत्या के विरुद्ध–रघुवीर सहाय--पृ. 78–79
2. नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएँ–पृ. 265

अब कोई आदमी कपड़ों की लाचारी में
अपना नंगा चेहरा नहीं पहनेगा।
अब कोई दवा के अभाव में
घुट-घुट कर नहीं मरेगा
अब कोई किसी की रोटी नहीं छिनेगा
अब वह जमीन अपनी है
आसमान अपना है
जैसा पहले हुआ करता था–
सूर्य, हमारा सपना है
मैं इन्तजार करता रहा......।"[1]

जब कवि का यह स्वप्न टूट जाता है तो इस बेरहमी व्यवस्था पर प्रहार करने में अपने को पीछे नहीं करते हैं। उन सभी इकाइयों की खबर लेते हैं जो प्रत्यक्षतः या परोक्षतः शोषण व्यवस्था से जुड़ी हुई हैं। स्वातन्त्र्योत्तर कविता के कवियों की राजनीतिक चेतना वर्तमान व्यवस्था की दो मुँही नीति की सही पहचान कराती है। साथ ही दुनिया के सबसे बड़े प्रजातान्त्रिक देश की सच्चाइयों से अवगत भी कराती हैं। जहाँ प्रजातान्त्रिक रूप से (काँग्रेसियों के अनुसार) प्रजातांत्रिक शक्तियों को कुचलाया जाता है। चाहे आजादी के तुरन्त बाद तेलंगाणा के क्रांतिकारी आन्दोलन को दबाना हो, सन् 1959 में केरल के वामपंथी सरकार का गिराया जाना हो, 1969 में बंगाल की राज्य सरकार कुचलना हो या 1975 में प्रजातान्त्रिक रूप से आपात्काल की घोषणा हो। देश के जनतन्त्र के ऊपर ही जनतन्त्रात्मक रूप से हमले का एक अच्छा-खासा उदाहरण। नागार्जुन की "प्रजातंत्र का होम" शीर्षक कविता इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है–

"सामंतों ने कर दिया प्रजातन्त्र का होम
लाश बेचने लग गये खादी पहने डोम
खादी पहने डोम लग गये लाश बेचने
माइक गरजे, लगे जादुई ताश बेचने
इन्द्रजाल की छतरी ओढ़ श्रीमंतों ने
प्रजातन्त्र का होम कर दिया सामंतों ने "[2]

स्वातन्त्र्योत्तर कवि मौजूदा जनतन्त्र को बूर्जुआ वर्ग का नकाब मानते हैं जिसे ओढ़ कर वह अपने विषमुँही चेहरे को छिपाता है। इनके प्रायः पैदा की गयी मिथ्या धारणाओं और साजिशों के द्वारा नागरिक अधिकारों और प्रजातान्त्रिक

1. संसद से सड़क तक : धूमिल–पृ. 101
2. नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएँ–2–पृ. 203

हकों को तरह-तरह की धारणाओं के तहत कुचलाया जाता है। जनतंत्र के नाम पर जनता पर ही हमला आजाद भारत की विडम्बना है। वास्तव में देश के विभिन्न भागों में चलाये जा रहे जनवादी आन्दोलनों पर हमला करना और क्रांतिकारी कार्यकर्त्ताओं को जेलों में भरना, यातनाएं देना और उन पर मुकदमें चलाना ही जनतंत्र की परिभाषा बन गयी है। कहने का सारांश है कि हमारा यह जनतंत्र चंद चालाक नर-भक्षियों के हितों की रक्षा के लिये ही है न कि जनवादी हकों और जनता के स्वस्थ मूल्यों के लिये। अतः स्वातन्त्र्योत्तर कविता के कवि का जनतंत्र के प्रति अविश्वास होना असंगत प्रतीत नहीं होता–

> 'उन्होंने जनता और जरायम पेशा
> औरतों के बीच की
> सरल रेखा को काटकर
> स्वस्तिक चिन्ह बना लिया है
> और हवा में एक चमकदार गोल शब्द
> फेंक दिया है–"जनतंत्र"
> जिसकी रोज सैकड़ों बार हत्या होती है
> और हर बार
> वह भेड़ियों की ज़ुबान पर जिन्दा है।"[1]

आगे यह स्पष्ट घोषणा करते हैं–

> "न कोई प्रजा है
> न कोई तंत्र है
> यह आदमी के खिलाफ
> आदमी का खुलासा
> षडयन्त्र है।"[2]

आजाद भारत का राजनैतिक इतिहास इस बात के लिये साक्षी है कि किस प्रकार हमारे नेताओं ने भाँति-भाँति के नारे देकर जनता को भ्रमित किया है। जनता के हितों के नाम पर अनेक योजनाएं घोषित की गयी हैं जो "हिडिम्बा की हिचकी, सुरसा की जुम्भाई"[3] को ही प्रमाणित करती हैं। बैंकों के राष्ट्रीयकरण द्वारा जमींदारों और पूंजीपतियों की सम्पत्ति को ही सुरक्षित किया गया है। "गरीबी हटाओ", "बीस सूत्री कार्यक्रम" आदि के माध्यम से जनता को मूर्ख बनाने के सिवा और कुछ नहीं किया गया। नेताओं द्वारा खूब सूरत और लच्छेदार भाषा

1. संसद से सड़क तक–पृ. 48–धूमिल
2. सुदामा पाण्डेय का प्रजातंत्र–धूमिल–पृ. 18
3. नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएं–2–पृ. 101

के प्रयोग ने जनता को और भी दलदल में ढकेला। आश्चर्य की बात यह है यह सब "समाजवाद" के नाम पर हुआ। आधुनिक परिवेश में "समाजवाद" एक आकर्षक मुहावरा है। आजादी से पहले नेहरू की समाजवाद के प्रति जो रुचि थी, वह आजादी के बाद नहीं रही। दर-असल समाजवाद का सब्ज बाग दिखाकर साम्राज्यवादी ताकतों पर निर्भरता और उनकी नीतियों का अनुसरण करने वाले नेहरू देश में भी पूँजीपतियों को रंज नहीं करना चाहते थे। आज भी यही ताकतें सरकारी व्यवस्थाओं का भले ही वह प्रत्यक्ष रूप में नहीं दिखाई देती हों, संचालन कर रही हैं। सरकार भी उनके हितों को ध्यान में रखकर अपने को गरीब का हितैषी होने का स्वांग रचाती है। अतः स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय परिवेश में "समाजवाद" का प्रयोग केवल जनता को भुलावे में रखने का एक अस्त्र के रूप में किया गया है। यथा—

"बात करो तुम सोशलिज्म की कांग्रेस की
जय बोलो और बापू जी की और देश की
फिर मारो जी सरकारी दफ्तर पर छापा
फर्स्ट क्लास की सर्विस देंगे चाचा-पापा।"[1]

"बीस बड़े अखबारों के प्रतिनिधि पूँछें पचीस बार
क्या हुआ समाजवाद
कहे महासंघपति पचीस बार हम करेंगे विचार
आँख मारकर पचीस बार हँसे वह, पचीस बार
हँसे बीस अखबार।"[2]

और

"मगर मैं जानता हूँ कि मेरे देश का समाजवाद
माल गोदाम में लटकती हुई
उन बाल्टियों की तरह है जिस पर "आग" लिखा है
और उनमें बालू और पानी भरा है।"[3]

भारतीय राजनीति में "संसद" एक निर्णायक शक्ति है। देश की प्रगति और जनहितों के लिये कार्यक्रम तय करने का अधिकार संसद को ही है। लेकिन हमारे यहाँ की संसद "कुछ और" ही है। निम्नांकित दो उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा कि भारतीय संसद कितना विसंगत, विडम्बनापूर्ण त्रासद और वीभत्स है।

"सिंहासन ऊँचा है सभाध्यक्ष छोटा है
अगणित पिताओं के

1. तिकड़म के ताऊ—नागार्जुन
2. आत्म हत्या के विरुद्ध—रघुवीर सहाय—पृ. 68
3. संसद से सड़क तक—पृ. 126

एक परिवार के
मुँह बाए बैठे हैं लड़के सरकार के
लूले काने बहरे विविध प्रकार के
हल्की-सी दुर्गन्ध से भर गया है सभाकक्ष ।
सुनो वहाँ कहता है
मेरा प्रतिनिधि
मेरी हत्या की करुण कथा
हँसती है सभा
तोंद मटका
ठठाकर
अकेले अपराजित सदस्य की व्यथा पर
फिर मेरी मृत्यु से डरकर चिंचियाकर
कहती है
अशिव है अशोभन है मिथ्या है ।"[1]

"अपने यहाँ संसद–
तेली की वह घानी है
जिसमें आधा तेल है
और आधा पानी है ।"[2]

"सिद्धान्त हीनता" स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय परिवेश की अन्यतम प्रवृत्ति रही । रातों-रातों नयी-नयी पार्टियों का प्रादुर्भाव होना, एक दल से दूसरे दल में कूदना सर्वसाधारण बात हो गयी है । आयाराम–गयाराम की परम्परा ही विकासोन्मुख है । यह केवल राजनैतिक नेताओं तक ही सीमित नहीं है । कलाकार, साहित्यकार और बुद्धि जीवी–ये सब के सब टुच्च सुविधाओं की लालच में बिक जाते हैं । यहाँ तक कि कुछ प्रगतिशील बुद्धिजीवी भी इसके शिकार हुए । अतः "वैचारिक सौदेबाजी", दल बदल, नेताओं की चरित्रहीता का ही प्राबल्य स्वातन्त्र्योत्तर परिवेश में पाया जाता है । लेकिन जागरूक कवि इन अवसरवादी सुविधा परस्त लोगों की पंक्ति में शामिल नहीं होते हैं । केवल सफलता की आँख से जो दुनिया को निहारता है प्रगतिशील कवि उन्हें कड़ा जवाब देते हैं । मुक्तिबोध "कहने दो उन्हें जो यह कहते हैं" शीर्षक कविता में तथाकथित सफलता पाने के लिये बेचैन उन बुद्धिजीवियों को ललकारते हैं जो सामाजिक महत्व की गिलौरियाँ

1. आत्महत्या के विरुद्ध–(मेरा प्रतिनिधि)--रघुवीर सहाय–पृ. 18
2. संसद से सड़क तक–पृ 127

खाते हुए असत्य की कुर्सी पर आराम से बैठे हुए, मनुष्य की त्वचा का ओवरकोट पहने बन्दरों व रीछों के सामने नयी-नयी अदाओं में नाचते हैं–

"राजनीति–साहित्य और कला के प्रतिष्ठित महासूर्य
बड़े-बड़े मसीहा
सरकस के जोकर से रिझाते हैं निरन्तर
नाचते हैं कूदते हैं
शोषण में सिद्धहस्त स्वामियों के सामने
चुपचाप आदर्शों को बाजू रख या भूलकर अवसरवादी
बुद्धिमत्ता ग्रहण कर और जिंदगी को भूलकर
बिलकुल बिक जाते हैं।"[1]

इन यश लोभी बुद्धिजीवियों को उन्होंने "अवसरवादी", "पूँजीवादी उल्लू का साहित्यिक पट्ठा' "मध्यवर्गी बुद्धिशील अवसरवादी केकड़ा" बकरी बन जाते हैं, कहा है। आज भारत के बहुदलीय जनतन्त्र में विभिन्न दलों की स्थिति देखकर घृणा ही पैदा होती है–

"पाँच दल आपस में समझौता किये हुए
बड़े-बड़े लटके हुए स्तन हिलाते हुए
जाँघ ठोंक एक बहुत दूर देश की विदेश नीति पर
हाँकते हाँकते मुँह नोंच लेते हैं
अपने मतदाता का।"[2]

राजनीतिक अवसरवाद की यह स्थिति है कि विरोधी दल की सरकार बन जाने पर उसमें शामिल होने के लिये पहले वाले शासक दल का मन्त्री या सदस्य धड़ाधड़ जनवादी वादों की घोषणा करने लगता है–

"गाकर सुनाता है
जनवादी वादों की घोषणा
महामन्त्री
जनता के लिये नहीं
वह विरोधियों को प्रमाण दे रहा है
कि मैं दलबदल के लिये योग्य व्यक्ति हूँ।"[3]

जिससे सत्ता और विपक्ष दलों के बीच कोई अन्तर दिखाई नहीं देता है–

---

1. मुक्तिबोध रचनावली भाग–1–पृ. 270–271
2. आत्महत्या के विरुद्ध–रघुवीर सहाय–पृ. 29–30
3. वही–पृ. 75

"लाल-हरि झण्डियाँ
जो कल तक शिखरों में फहरा रही थीं
वक्त की निचली सतहों में उतर कर
स्याह हो गयी हैं।"[1]

इस सन्दर्भ में नागार्जुन की यह कविता इस मामले में महत्व रखती है कि वह आम आदमी और खास आदमी के बीच एक स्पष्ट वर्ग रेखा खींचती है। इसमें कवि ने धरती की श्रमरत जनता एक तरफ और उसी धरती का एक अंग होते हुए भी अपनी निजता में बद्ध, अपनी विशिष्टता के अहं में उससे अलग-थलग पड़े साहित्यकार और बुद्धिजीवी को दूसरी तरफ रखा है–

"वे लोहा पीट रहे हैं
तुम मन को पीट रहे हो
वे पत्तर जोड़ रहे हैं
तुम सपने जोड़ रहे हो
उनकी घुटन ठहाकों में घुलती है
और तुम्हारी घुटन ?
उनींदी घड़ियों में चुरती हैं
वे हुलसित हैं
अपनी ही फसलों में डूब गये हैं
तुम हुलसित हो
चितकबरी चाँदनियों में खोए हो
उनको दुख है
नये आम की मंजरियों को पाला मार गया है
तुमको दुख है
काव्य–संकलन दीमक चाट गये हैं।"[2]

अतः कवि की चेतना स्वातन्त्र्योत्तर सामाजिक और राजनीतिक जीवन के पाखंड स्वार्थपरता, अन्तर्विरोध, हताशा और विद्रूप को उजागर करती हैं। स्पष्टतः स्वातन्त्र्योत्तर कवि उस व्यवस्था का विरोध करते हैं और उस मनोवृत्ति के प्रति घृणा प्रकट करते हैं जो दूसरों के खत पर जा रही है। और घोषित करते हैं–

"कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ
वर्तमान समाज में चल नहीं सकता
पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता

---

1. संसद से सड़क तक : धूमिल–पृ. 42
2. नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएँ–2–प. 145

स्वातन्त्र्य व्यक्ति का वादी
छल नहीं सकता मुक्ति के मन को
जन को ।"[1]

फिर भी वह न्यायपूर्ण जिन्दगी स्थापित करने के लिए संकल्पबद्ध है। अपनी रचना का प्रयोग अब एक सामूहिक मुक्ति के लिये करता है। अपनी रचना के इस सार्थक प्रयोग के तहत जन-चेतना को विकसित करता है और जन संघर्ष छेड़ता है–

"मुझे लड़ना नहीं अब–
किसी छोटे कद वाले आदमी के इशारे पर–
जो अपना कद लम्बा करने के लिये
पूरे देश को युद्ध में झोंक देता है।
मुझे लड़ना नहीं–
किसी प्रतीक के लिये
किसी नाम के लिये
किसी बड़े प्रोग्राम के लिये
मुझे लड़नी है एक छोटी-सी लड़ाई
छोटे लोगों के लिये
छोटी बातों के लिये ।"[2]

भारत की यह विडम्बना ही है कि इस प्रकार की संघर्षशील चेतना के बावजूद एक सही दिशा-निर्देशन के अभाव में जनता को निराशा का ही सामना करना पड़ा। एक नया समाज अर्थात् वर्ण-वर्ग-शोषण रहित समाज निर्मित व स्थापित करने का उद्देश्य आज भी धूमिल-सा है। सर्वत्र अस्पष्टता और अनिश्चितता ही आवृत्त है। सत्य हमारी आँखों के सामने स्पष्ट नहीं है। एक आंदोलन का सत्य, एक दृढ़ संकल्पशील जनचेतना का सत्य, एक संगठित संयुक्त मोर्चे का सत्य। ऐसी स्थिति में अर्थात् जन विरोधी सत्ता दल के विकल्प में समूचे देश में कोई भी विपक्षी-दल सक्रिय नहीं हो, और कांग्रेस की विफलताओं से जनता पूरी तरह से ऊब रही हो, समाज में प्रतिक्रियावादी एवं अतीतोन्मुखी शक्तियाँ ही हावी हों तो निश्चय ही जागरूक या युवा पीढ़ी विद्रोही हो उठती है। लेकिन एक सही दिशा के अभाव में उसकी यह विद्रोही चेतना निरर्थक ही प्रमाणित होती है। यथा धूमिल के शब्दों में–

1. मुक्तिबोध रचनावली-2–पृ. 350-351
2. आलोचना–पूर्णांक-50, पृ. 78–(कुमारविकल की कविता एक छोटी सी लड़ाई)

"मगर हर आदमी अपनी जरूरत के आगे
असहाय था। उसमें
सारी चीजों को नये सिरे से बदलने की
बेचैनी थी, रोष था,
लेकिन उसका गुस्सा
एक तथ्यहीन मिश्रण था
आग और आँसू और हाथ का।"[1]

स्वातन्त्र्योत्तर परिवेश में राजनीतिक चेतना से लैस कविता आदमी के जीवन को अर्थवान बनाने की ओर प्रवृत्त है। और वह इस बात की ओर संकेत भी करती है कि "आज के कवि को न केवल अपने युग की राजनीति को समझना-परखना है वरन् उसे जनता के संघर्ष में, अपनी पक्षधरता भी प्रमाणित करनी है।"[2]

निष्कर्ष

कविता के वैचारिक आयामों में वैचारिक संघर्ष एक प्रमुख आयाम रहा है। परिवेश के आधार पर संपन्न होने वाली स्थितियों में तीव्रता कम या तेज होने के क्षणों में चेतना के संदर्भ खुल जाते हैं। खास करके किसी समाज के क्षणों में कभी स्तब्धता आती है, उससे कुछ प्रवृत्तियाँ खुल जाती हैं। भारतीय समाज के ऐसे क्षणों में तीन प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई थीं—(1) विद्रोही चेतना (2) वैयक्तिक चेतना (3) कलावादी या रूपवादी चेतना। इन तीनों चेतनाओं को प्रभावित करने वाली विचारधाराओं का ग्रहण, समर्थन व विरोध में कविता के आंदोलन भी चले थे। उनमें प्रकृतिवादी यथार्थ के क्षितिज से जुड़े हुए और दूसरा समाजवादी यथार्थ से जुड़े हुए रूप, कविता के वैचारिक प्रसंग बने हुये हैं। यही प्रसंग व्यक्ति-निष्ठ एवं समाजनिष्ठ दृष्टिकोणों के संघर्ष को प्रोत्साहित करते हैं। इन संघर्ष प्रश्रित रूपों में कहीं दिशा निर्देश देने में अवरोधों की संभावना बनी रही है या दिशा के भ्रमित होने की चेष्टायें संभव रही हैं। ऐसे विरोधों, अवरोधों और प्रेरक रूपों की पहचान आवश्यक है।

हिन्दी और तेलुगु की स्वातन्त्र्योत्तर कविता में सृजन के नये-नये रूपों, नये-नये परिवर्तनों उसके काव्य सृजन के अन्तर एवं भेदों और उसके संवेदन-शीलता के ज्ञान रूपों, स्थिति का संकेत देने वाली चेतना की आवश्यकताओं और तद्वारा जिन्दगी को जानने, समझने और विश्लेषित करने तथा कला प्रयोगों जैसे वैज्ञानिक आधारों द्वारा कविता का वैचारिक संघर्ष रूप प्रकट हो सकता है। जिससे स्पष्ट होगा कि संघर्ष के परिणाम कविता की मानवीय संवेदना का एक

1. संसद से सड़क तक—पृ. 110
2. समकालीन कविता का परिप्रेक्ष्य : मदन गुलाटी—पृ. 196

नया साक्षात्कार है और वह वैचारिक दृष्टि का कला रूप है ।

आज कविता के दौर में ऐसे परिवर्तन आ रहे हैं जो सर्जनात्मकता के धरातल को रागात्मक सम्बन्धों से जुड़ने नहीं देते । बल्कि पतनशील माहौल से गुँथने को प्रोत्साहित करते हैं । स्वर्णिम भविष्य की कल्पना की जगह पर कल्पित भ्रमों में मँडराना पड़ता है । आजादी की कल्पनाएँ आज उलट कर सामने आती हैं । फलतः रचनाकार को सार्थक प्रयोग का आश्रय लेना पड़ता है । ऐसे परिवर्तन-शील युग पथ के साथ कविता विचारधारात्मक समर्थन एक सृजन परक अनि-वार्यता है । रचनाकार की ऐसी नयी भूमिका और नयी सृजन धर्मिता की पहचान हिन्दी में मार्क्सवादी कविता ने संघर्षशील समाज के सरोकार में देखा-पहचाना है। ऐसी मार्क्सवादी कविता के वैचारिक तत्वों का विश्लेषण प्रस्तुत अध्याय के निष्कर्ष के रूप में उपलब्ध किये जा सकते हैं ।

स्वातन्त्र्योत्तर प्रगतिशील कविता ने कला को वैचारिक संघर्ष का एक अनिवार्य तत्त्व माना है । पूँजीवादी कला में शांति और सामाजिक प्रगति के लिये होने वाले संघर्ष की दिशा को भ्रमित करने की चेष्टा होती है । इसलिये प्रगतिशील कवि कला के वर्गीय रूप की ओर ध्यानाकर्षित करता है । वर्गहितों एवं सौंदर्यबोध की आवश्यकताएँ उनके ध्यानस्त हो जाती हैं । वर्ग चेतना से समाबद्ध करने के कारण जनता के जीवन मूल्य और जीवनादर्श के प्रतिष्ठापन में रचनाकार अग्रसर होता है और संघर्ष को वाणी देता है । इसलिए इस वैचारिक दृष्टि का कला रूप मात्र बाह्य आग्रह की स्वीकृति नहीं बल्कि आग्रह के तत्वों का आभ्यन्तरीकरण कर लेता है । वैचारिक दृष्टि के इस कला रूप से जिन्दगी को जानना, समझना और विश्लेषित करने का एक अन्तर विचारधारा का एक अन्तर बन जाता है । चूँकि यहाँ पर विचार का आधार लिया होता है । अनुभव आधार नहीं बनता । इसलिए वैचारिक दृष्टि से कला रूप में ऐसे कार्य को कला रूप दिया जाता है जिससे मनुष्य के अन्तरद्वन्द्व, संघर्ष एवं उम्मीद का संसार और समय की सच्चाइयों, षडयन्त्रों एवं मनुष्य की अपराजेय उम्मीद का तात्कालिक परिदृश्य एक नया कार्यरूप ले लेता है । जिसमें संवेदन ज्ञान के तनाव घिराव, कविता के नये ढंग को बनाते हैं ।

चौखटा सच्चाइयों से जोड़ना प्रतिक्रियावादी अनुभववाद के लिए पल्ला नहीं पड़ता । चूँकि उनका इच्छित संसार और उनका राजनीतिक कार्य मानव को नियति के घेरे में बँधा रखने के लिये उद्धिष्ट है । उनके कार्य रूपों का मूल्यांकन–क्या और क्यों प्रश्नों से करना उनकी पसंद के लिये विपरीत है । वे सर्वग्रासी विनाश की छाप को संवेदन ज्ञान के अंश में नहीं आने देना चाहते हैं । कर्तव्य धर्म के प्रति ईमानदार होना वे पसंद नहीं करते जो कवि धर्म का उल्टा रूप है ।

रचनाकार की सार्थकता जीवन से और उसके खरास रूपों में भी जुड़कर सामाजिक कर्म का निर्वाह करना होता है। लेकिन यह प्रतिक्रियावादी अनुभववादी विचारक कविता में स्वायत्तता को ही पसंद करते हैं। जनता की चित्तवृत्तियों से अपरिचित विशिष्ट अनुभूति लोक का निर्माण करना उनके रूपवाद की ध्वनि है। जिसमें संपर्क की कमी एकमात्र गुण रहता है। ऐसे अभिजात मानसिकता के विरोध में लोक जीवन का कवि लोक मन को आत्मीयता के साथ ग्रहण करना पसंद करता है।

अकेले को सामूहिकता देना और समूह को साहसिकता देना वर्ग चेतना के कवि का लक्ष्य बना है। इस ढंग से कविता के कला कार्य में कर्म रूपों के संघर्ष का प्रवेश कविता विचार में कविता प्रकारों को विश्लेषित करने का व्यापक दृष्टिकोण समावेश कर लेता है।

इस अर्थ में राजनीतिक कविता का एक नया प्रकार भी जन्म लेने की आवश्यकता नयी चेतना की आवश्यकता बन जाती है। इसलिए ऐसी कविता में विचार कविता का कलात्मक आधार बन जाता है, विचार के समर्थन के जरिये अनुभव को झुठलाया जाता है। इसलिए राजनीतिक कविता दार्शनिक कविता-सी, युग भीत की यात्रा सी और जीवन्त मान्यता-सी लगने वाली दिशाओं में बढ़ती है। इस अर्थ में सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में कविता वर्ग की देन बनती है। ऐसी कविताएँ राह की खोज में लगती हैं, मिटी हुई नियति का चित्रण नहीं देती, निश्चित लक्ष्य का संकेत करती है। और उनकी कविता का रूप उग्र एवं हिंसात्मक होने का भी स्वरूप अपनाता है जो क्रांति के लक्ष्य का स्वर भी बन सकता है। जिससे क्रांति में भागीदार होने की सूचना मिलती है। समाज की वर्तमान स्थिति का जिम्मेदार और परम्परागत स्थिति के जिम्मेदार विचारधाराओं के संघर्ष का यह अन्तर भागीदार होने की सूचना के अन्तर से समझा जा सकता है। इसलिए जन चरित्री कविता का आदर्श संघर्ष के साथ सामाजिक, आर्थिक लक्ष्य लेकर जीवन आदर्श बन जाता है। उनकी दृष्टि में विश्वदृष्टि का प्रसंग और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रसंग सामान्य अनुभव से भिन्न लोक के विचार के साक्ष्य, उपलब्ध कराते हों। स्वकेन्द्रित एवं कुंठित की जगह संघर्षशील सामूहिक भूमिका का मुहावरा इनकी कला का मुहावरा बनता है। सफलता की आँख से दुनिया को नहीं देखना चाहते हैं उल्टे में वे समस्याओं का और वर्तमान का कड़ा जवाब उनकी रचना का सार्थक प्रयोग रूप बन जाता है। सार्थक प्रयोग उनकी कला का प्रमुख रूप होकर जनता को विकसित करने और जन संघर्ष को छेड़ने की दिशा में बढ़ना और आम आदमी के जीवन को अर्थवान बनाने में प्रवृत्त होना एवं संघर्ष की पक्षधरता प्रामाणिक बनाने के प्रयत्न में लग जाना जनवादी कविता के विशिष्ट लक्षण होते हैं और वे ही गुण राजनीतिक चेतना की कविता के स्वरूप निर्धारण के सहायक तत्त्व बन

गये हैं।

कला प्रकारों के विश्लेषण के अलावा वैज्ञानिक आधार पर कला भावनाओं को जगाना जनवादी कविता के रूप चिह्न बनते हैं। ऐसे वैज्ञानिक आधार निर्मित करने वाले तीन स्वर उनके सामने हैं- (1) व्यक्ति और समाज का द्वन्द्वात्मक धरातल, (2) मनुष्य की नयी प्रतिभा के रूप में विसंगतियों को झेलने वाला और नया मूल्य निर्माण करने वाला जो अपनी नियति में दखल दे सकता हो और भविष्य की रचना में खुद का योग हो सकता हो ऐसे व्यक्ति का समर्थन, (3) नये दायित्व को प्रेरित करने, मनुष्य का सगठन बढ़ाने और संगठन को उस समाज के प्रतीक बनाने वाला योग्य सौंदर्य मूल्य का अनुभव कराना। यह तीनों अनुभव व्यक्तिवादी कलावादी रचना दृष्टि की स्थापना के विरोध में उभरते हैं। विरोध के लिये आवश्यक भी हैं।

साहित्यिक सिद्धांतों के शीत युद्ध में प्रगतिशील कविता का चरित्र संघर्षशीलता की आक्रामक प्रवृत्ति अपने स्वरों में वैज्ञानिक है चूँकि वह वर्तमान सामाजिक संरचना में आम आदमी की सुरक्षा नहीं होने का अनुभव प्रत्यक्ष साक्ष्य बनता है। जीवन की विडम्बनाओं और विद्रूपताओं वाले समकालीन यथार्थ के उभार को एक विशेष दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है। आज की विवशताओं के प्रति आर्द्र संवेदना के साथ मानवीय सहानुभूति आकर्षित करना उनकी कला मानसिक वृत्तियों को दिशा देना चाहती है। ऐसे दायित्वबोध को प्रेरित करने के लिये मानवीय व्यक्तित्व की दूषित वृत्तियों का विरोध करती है। वैसी मानवीय संवेदना वर्ग शत्रु की तलाश में रहती है। उनकी मानवीय संवेदना के अनेक संदर्भों में गरीब-नारी और अन्य पीड़ित वर्गों की स्थितियाँ सभ्य समाज का परिहास करते प्रत्यक्ष होती हैं। उपेक्षितों के प्रतीक के रूप में नारी पहले की संज्ञाओं (घरेलू) और पहले की प्रतिमाओं (अतृप्त वासनाओं की) तथा आकर्षण को तोड़ने वाली एक बौद्धिक समझदारी के साथ शब्दों के प्रयोग करने वाले प्रयोक्ता के रूप में प्रगतिशील कविता की नारी वर्तमान के लिये अप्रासंगिक नहीं बनती। क्रांतिकारी नैतिकता का भी समावेश करती है। नारी परम्परा की व्याख्या के द्वारा नयी की खोज में जनता के साथ अपने को जोड़ने का प्रयत्न करती है और क्रांतिकारी नैतिकता के साथ संघर्ष का समर्थन भी करती है। नारी के समान अन्य पीड़ितों और पीढ़ियों के अन्तर्द्वन्द्व को समझ सकते हैं।

कविता के संदर्भ में द्वन्द्व और संघर्ष के मूल्य वैसे अनेक पीड़ितों की मानसिक वृत्ति, मानवीय सहानुभूति और उनकी प्रगतिशील एवं क्रांतिधर्मी चेतना के वैज्ञानिक परिणाम हैं। समाज का वैसा दायित्व बोध रखने वाली कविता मौजूद समाज के प्रति तिरस्कार का रवैया अपनाने में सार्थक दृष्टि का समर्थन ही कर

लेती है। सामाजिक बदलाव, सामूहिक मुक्ति का आग्रह केवल नारेबाजी नहीं है बल्कि मौजूद सामाजिक संरचना की विफलताओं के प्रत्यक्ष साक्ष्यों के बल पर उत्पन्न दार्शनिक अनुभव एवं भविष्य चेतना के प्रसूत क्रांति की इच्छित अभिलाषाएँ हैं। सामाजिक संरचना के प्रति मोहभंग के स्वर कभी तिरस्कार पूर्ण रवैया अपनावें या मुक्ति का आग्रह बनें। वे समाज से जुड़े संघर्षशील रूप हैं जो रचनाकार को नयी भूमिका अदा करते हैं। कविता का यह वैचारिक संघर्ष का रूप कला का वैज्ञानिक आधार है।

मूल्य निर्माण की दिशा में जाने वाली कला का यह रहस्य है जो मूल्य विखण्डन को भी आवश्यक बनाता है। समाजवादी यथार्थ के परिवेश में दो तरह की काव्य प्रवृत्तियों का यह संघर्ष रूप एक वैचारिक परिवेश का धरोहर है। अत: दृष्टिकोणों के संघर्ष के परिणामों को 'नया सृजन के आधार स्रोत' बनाना स्वातन्त्र्योत्तर कविता का नया वैचारिक आयाम है। इस आयाम में वैयक्तिक प्रश्रय प्राप्त कविता में जहाँ सामाजिक संघर्षों से पलायन, कुण्ठा, अतृप्ति एव संत्रास को प्रोत्साहन दिया जाता है। और यह जो अनुभव संघर्ष को दिशा निर्देश देने के अवरोधक साबित होते हैं नया सृजन इनका विरोध करता है।

मूल्य को प्रमुख तत्त्व मानने वाली प्रगतिशील चेतना विद्रोह, व्यक्तिनिष्ठता, कलावादिता जैसी चेतनाओं का और उनके कर्म व्यवहारों का विश्लेषण आवश्यक मानती है, जनता के साथ प्रतिबद्धता और वर्ग चेतना के विकास में अन्तत: वह मूल्यांकन के लिए विश्लेषण का प्रश्रय लेता है। इस अर्थ में दृष्टिकोणों के संघर्ष और नये सृजन को प्रोत्साहित करने वाली प्रगतिशील कविता का विचार कलानिष्ठ और मूल्य निष्ठ है।

स्वातन्त्र्योत्तर तेलुगु कविता : मार्क्सवाद

आर्थिक असमानताओं को दूर करके सर्वहारा वर्ग की सत्ता स्थापित करना ही मार्क्सवाद का लक्ष्य है। वर्ग संघर्ष उसका ध्येय है। मार्क्सवाद सामाजिक परिस्थितियों एवं परिवर्तनों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर विश्लेषित करता है। हालांकि यह बात सही है कि सर्वहारा राज्य की स्थापना के मार्गों के सम्बन्ध में मार्क्सवादियों के बीच मतभेद अवश्य है। लेकिन यहाँ उनका उल्लेख करना न तो आवश्यक है और न ही काम्य। वर्ण-वर्गहीन समाज की स्थापना ही मार्क्सवाद का अन्तिम लक्ष्य है। "जब तक समाज वर्गों में विभक्त होकर रहेगा और उन वर्गों के बीच स्पर्धा बनी रहेगी तब तक मार्क्सवाद-का होना अनिवार्य है"[1] वास्तव में मार्क्सवादियों के लिये वर्ग-संघर्ष एक उत्तेजना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे समाज में हिंसा भड़काते हैं। ताड़ित-पीड़ित जनता को

1. तेलुगु साहित्यमु–मार्क्सिजम् प्रभावम्–महति–पृ. 76 श्री के. वी. आर

एकत्रित एवं जागृत करने के क्रम में शोषक वर्गों के दमन में हिंसा अनिवार्य हो जाती है।

समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य की तुलना में तेलुगु साहित्य में मार्क्सवाद की जड़ें बहुत गहरी हैं। भारत के सम्पूर्ण इतिहास में आन्ध्र प्रदेश ही एक ऐसा क्षेत्र है जिसे मार्क्सवाद को भारतीय धरती पर व्यवहार में लाने का श्रेय प्राप्त होता है और प्रगतिशील आंदोलन को ठोस आधार प्रदान करता है। इसका सशक्त प्रमाण तेलंगाना के किसानों का बहादुराना सशस्त्र संघर्ष है। संघर्ष की प्रमुखता मार्क्सवाद के अन्तर्गत ही नहीं है, मार्क्सवाद से प्रभावित कविता के अन्तर्गत भी है। यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि तेलंगाना के किसानों के सशस्त्र संघर्ष के दौरान मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित कवियों व कलाकारों के अलावा अनेक ऐसे रचनाकार भी हुए हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं के केन्द्र में 'सामाजिक परिवर्तन' रखा है। फिर भी मार्क्सवादी कवियों का इस संघर्ष के दौरान संगठनात्मक एवं निर्माणात्मक योगदान रहा है। अतः तेलंगाना के किसानों के बहादुराना सशस्त्र जन संघर्ष के दौरान सृजित अभ्युदय (प्रगतिशील) कविता के आलोक में स्वातन्त्र्योत्तर तेलुगु कविता की मार्क्सवादी प्रवृत्तियों को विश्लेषित करना उचित होगा क्योंकि संघर्ष के श्रेष्ठ साहित्य का निर्माण केवल संघर्ष के उतार-चढ़ाव का, हार-जीत का, सुख-दुखों का अनुभव करने वाली जनता के बीच में ही होता है। वास्तव में स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय परिवेश में प्रगतिशील आंदोलन की नींव तेलंगाना के किसानों के सशस्त्र जन संघर्ष के आलोक में ही डाली गयी है। अतः स्वातन्त्र्योत्तर तेलुगु कविता की मार्क्सवादी प्रवृत्तियाँ तेलंगाना के किसानों के सशस्त्र जन-संघर्ष के आलोक में लक्षित की जा सकती हैं।

१. तेलंगाना के किसानों का सशस्त्र संघर्ष और अभ्युदय कविता

यद्यपि तेलुगु प्रांत में सन् 1943 में 'अभ्युदय रचयितल संघम्' (प्रगतिशील लेखक संघ) की स्थापना हुई थी लेकिन इससे पूर्व ही श्री. श्री. की रचनाओं से प्रगतिशील भावनाएँ सर्वत्र फैली हुई थीं। पर संगठनात्मक एवं निर्माणात्मक प्रगतिशील स्वर 'अभ्युदय रचयितल संघम्' के आविर्भाव से ही मुखरित हुआ है। तेलुगु साहित्य के इतिहास में अभ्युदय साहित्य का आविर्भाव एक क्रांतिकारी परिवर्तन है। अभ्युदय कविता के आविर्भाव से साहित्यिक मूल्य बदल गये हैं। पुराने मूल्यों की जगह नये मूल्य प्रतिष्ठित हुए हैं। जड़ीभूत चिंतन समाप्त होकर चेतनात्मक चिंतन उभरा है। अनुभूति के स्थान पर दृष्टिकोण की प्रमुखता बढ़ी है। आत्मिक अनुभूतियों से हटकर भौतिक वस्तुओं की वास्तविकता को कवि मानस अपनाने लगा है।

अब यह समझा जा रहा था कि मनुष्य प्राकृतिक एवं सामाजिक नियमों को केवल जानने की चेष्टा ही नहीं करता है बल्कि उन्हें सामूहिक शक्ति द्वारा बदल भी

सकता है। इस प्रकार की भावना के पीछे जनता ही चरित्र की निर्मात्री है सूत्र ही कार्यशील है। अभ्युदय साहित्य तीन भावनाओं–यथार्थ, सौंदर्य एवं दर्शन का संगम है।[1] वस्तुतः अभ्युदय साहित्य चेतना-शील साहित्य है। पिछली सामाजिक व्यवस्था को तिरस्कृत करने के साथ समकालीन असंतुलित सामाजिक संरचना के विरुद्ध विद्रोह करना अभ्युदय कविता का परम लक्ष्य बन गया है। अभ्युदय कवि के लिये समकालीन यथार्थ की अभिव्यक्ति ही मुख्य है। अभिव्यक्ति का यह स्वर तेलंगाना के किसानों के संघर्ष के दौरान मुखरित हुआ है। आधुनिक भारत के इतिहास में तेलंगाना का सशस्त्र जन-संघर्ष एक महत्त्वपूर्ण घटना है। भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन का एक 'स्वर्ण अध्याय' है। तेलंगाना के किसानों का यह सशस्त्र संघर्ष जून 1946 से अक्तूबर 1951 तक आन्ध्र महासभा और कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चलाया गया था।[2] पहले हैदराबाद के सामंती शासन के विरुद्ध यह संघर्ष चलाया गया था, बाद में 13 सितम्बर 1948 से अक्तूबर 1951 तक भारतीय सेना तथा पुलिस सशस्त्र हस्तक्षेप के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा गया। दरअसल, तेलंगाना के जन संघर्ष का बीजारोपण जनगाँव का घृणित देशमुख विसुनूरि रामचन्द्रारेड्डी द्वारा पालकुर्थी ग्राम की अइलम्मा नामक धोबिन के खेत हड़प लेने के प्रयत्न से हुआ था और विसुनूरि रामचन्द्रा रेड्डी के गुण्डों द्वारा 4 जुलाई, 1946 को की गयी जन नेता दोड्डी कोमरय्या की हत्या की घटना से कृषक विद्रोह सशस्त्र संघर्ष के रूप में परिवर्तित हुआ।[3] प्रारम्भ में यह संघर्ष जमीन बेदखली और बेगार तथा गल्ला वसूली के विरुद्ध शुरू हुआ था, प्रकारांतर जमींदारी प्रथा के विरोध में परिणत हुआ। इस संघर्ष को दबाने के लिये जागीरदारों, देशमुखों और सशस्त्र रजाकारों ने पूरे प्रयास किये थे। लेकिन जन आंदोलन की बाढ़ के सामने एक न चली। परन्तु जब सरकार ने सशस्त्र सेना द्वारा हस्तक्षेप किया तो स्थिति कुछ बदल गयी। वास्तव में "पुलिस कार्रवाई के बाद विभिन्न प्रकार के 50 हजार सशस्त्र सैनिकों की एक बड़ी सेना इस आन्दोलन को बलपूर्वक दबाने और भूस्वामियों के क्षत-विक्षत शासन को फिर से कायम करने के लिये लगा दी गयी। कुछ गैर सरकारी अनुमानों के अनुसार, भारत सरकार ने उस समय हैदराबाद में इतने अधिक धन और साधनों का व्यय किया था, जितने अधिक धन और साधनों का व्यय उसने पाकिस्तान के साथ 1947-48 में कश्मीर के सवाल पर होने वाले युद्ध में किया था।"[4] इससे यह जाहिर होता है कि आजादी

1. आधुनिक तेलुगु साहित्यमलो विभिन्न धोरणुलु–सं. के. के. रंगनाथाचार्युलु–पृ. 76-77
2. आधुनिकांध्र कविता समीक्षा : आचार्य–के वी. रामनरसिंहम्–पृ. 349
3. वीर तेलंगाना विप्लव पोराटामु : गुणपाठालु : पी. सुन्दरैया–पृ. 58
4. वही पृ. 19

की प्राप्ति के तुरन्त बाद ही सत्ता के तथाकथित कर्णधारों ने जन आंदोलनों को दमित करने की कुपरम्परा शुरू की।

दरअसल, 'तेलंगाना' की किसान जनता को और कम्युनिस्ट पार्टी की विशाल आन्ध्र राज्य इकाई को जिसके ऊपर किसानों के इस जन विद्रोह का नेतृत्व करने का भार आ पड़ा था, "जबर्दस्त बलिदान देने पड़े। चार हजार की तादाद में कम्युनिस्ट और लड़ाकू किसान कार्यकर्ता जान से मारे गये। दस हजार से अधिक कम्युनिस्ट कार्यकर्ता और जन सैनिक 3-4 साल तक नजर बन्द कैम्पों और जेलों में बन्द रहे। कम से कम 50 हजार ऐसे लोग थे जिन्हें समय-समय पर घसीट कर पुलिस और फौज के कैम्पों में ले जाया गया और वहाँ उन्हें हफ्तों तथा महीनों तक पिटाई, यातनाओं और आतंक का शिकार बनाया गया। हजारों गाँवों की कई लाख जनता को पुलिस और फौज की चढ़ाई का सामना करना पड़ा।"[1] किसानों के इस वीरतापूर्ण आंदोलन को ही यह श्रेय प्राप्त होता है कि भारतीय इतिहास में पहली बार इस संघर्ष के दौर में 3000 गाँवों की किसान जनता ने, जिनकी जनसंख्या मोटे तौर पर तीस लाख के करीब होगी, 16000 वर्ग मील के क्षेत्र में लड़ाकू ग्राम पंचायतों के आधार पर ग्रामराज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। सभी प्रकार की बेदखलियाँ बन्द कर दी गयीं। सूद की लुटेरी और अत्यधिक बढ़ी हुई दरों को एक बार कम कर दिया गया था फिर उन पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया गया। खेत मजदूरों का दैनिक वेतन बढ़ा दिया गया और एक निम्नतम वेतन लागू किया गया।[2] इसी संघर्ष के दौरान 'जमीन जोतने वालों की' नारा देकर सफल बनाया गया।

निश्चित रूप से संघर्ष के इन पाँच वर्षों का समय आन्ध्र के इतिहास में जन चेतना को उभारने वाला समय है। प्रगतिशील साहित्य के इतिहास में यह युग एक स्वर्ण युग है।[3]

इस जन संघर्ष के दौरान उत्तम कोटि का साहित्य निर्मित हुआ। इस समय अनेक कलाकार, कवि हुए। यहाँ तक कि संघर्ष में हिस्सा लेने वाले सामान्य कार्यकर्ता ने भी एक जागरूक लेखक की भाँति साहित्य का सृजन किया। उनकी एक-एक रचना अमानवीय व्यवस्था एवं वर्गशत्रु पर सीधा प्रहार करती है। आश्चर्य की बात यह है कि इनकी रचनाओं में कथ्य और शिल्प के स्तर पर साहित्यिक मूल्यों की हानि नहीं हुई है—वरन् और भी निखर उठी हैं। वास्तव में

1. वीर तेलंगाना विप्लव पोराटम—गुणपाणलु—पी. सुन्दरैया—पृ. 19
2. वही, पृ. 92
3. आधुनिक तेलुगु साहित्यमलो विभिन्न धोरणलु—के. के. रंगनाथाचार्युलु, पृ. 85

मुक्तिबोध का यह कथन इस संघर्ष के दौरान चरितार्थ हुआ है कि "कलाकार का केन्द्र व्यक्ति है, पर उसी केन्द्र को अब दिशाव्यापी करने की आवश्यकता है। फिर युग-संधिकाल में कार्यकर्ता उत्पन्न होते हैं, कलाकार नहीं–इस धारणा को वास्तविकता द्वारा गलत साबित करना पड़ेगा।"[1] वास्तव में कार्यकर्ता को भी कलाकार में परिवर्तित करने का श्रेय तेलंगाना के किसानों के सशस्त्र संघर्ष को ही प्राप्त होता है।

इस संघर्ष के दौरान सृजित साहित्य दो श्रेणियों में विभक्त है।[2] प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत उन कवियों व रचनाकारों को रखा गया है जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप में इस संघर्ष में हिस्सा लिया। इनमें प्रमुख हैं जन कवि कालोजी नारायण राव और 'रुद्रवीणा' एवं 'अग्निधारा' के लेखक एवं महाकवि दाशरथी। द्वितीय श्रेणी साहित्य के अन्तर्गत तेलंगाना के बाहर रहकर संघर्ष से प्रभावित होकर तेलंगाना की किसान जनता के प्रति हार्दिक सहानुभूति व्यक्त करते हुए संघर्ष को काव्य रूप देने वाले रचनाकार हैं। इसमें प्रगतिशील कविता के सार्थक हस्ताक्षर आरुद्र (त्वमेवाहम) सोमसुन्दर (वज्रायुधम) कुंदुर्ति (तेलंगाना), के. वी. रमणा रेड्डी (अडंवि, भुवनघोष), गंगिनेनी (उदयिनी), रेण्टाला (संघर्षण) आदि प्रमुख हैं।

तेलंगाना के जनसंघर्ष के दौरान और आज भी उत्पीड़ित जनता के पक्ष लेने वाले तेलुगु कवियों में शीर्षस्थ हैं कालोजी नारायणराव। कालोजी जन कवि हैं। अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध जनता को जाग्रत करते हैं। उनकी रचनाओं के केन्द्र में जनता ही है। उन्होंने तेलंगाना के सशस्त्र जन संघर्ष में प्रत्यक्ष हिस्सा लिया था। पूरे तेलंगाना क्षेत्र का भ्रमण करके निजामशाही के विरुद्ध जनता को जगाया था। रजाकारों के अत्याचार और दमन के विरुद्ध आवाज बुलन्द किया था। रजाकारों को नाजियों के रूप में चित्रित करने वाली यह कविता अमानवीय व्यवस्था पर चोट करती है–

> "नवयुग में नाजियों का
> नंगा-नाच आगे कब तक ?
> पुलिस की शह में अराजक ताकतें
> पलती रहेंगी और कब तक ?"[3]

1. तार सप्तक (1943)–मुक्तिबोध का आत्मवक्तव्य, पृ. 7 (चतुर्थ संस्करण)
2. तेलुगु कविता विकासमु–कडियाल राममोहन राय, पृ. 93
3. नवयुगंबुन नाजी वृत्तुल
   नग्न नृत्यमिकेन्नाललु
   पोलिसु अंडनु दौर्जनय शक्तुलु
   पोषण बोंदे देन्नाल्लु ?
   –तेलुगु कविता विकासमु–कडियाल राममोहन राय (उद्धृत), पृ. 100

कालोजी की प्रत्येक कविता संघर्ष के दौरान समस्त तेलंगाना क्षेत्र में गुंजित हुई है।

इस संघर्ष में प्रत्यक्ष भाग लेने वाले अन्य कवियों में दाशरथी प्रमुख हैं। अपनी रचना के प्रेरणा स्रोत स्पष्ट करते हुये उन्होंने लिखा है–'निजाम के राज्य में सरकार की तानाशाही, जनता की विवशतायें, भारत की आजादी, तेलंगाना के किसानों के संघर्ष के दौरान संघर्ष को कुचलने सरकारी सेना का प्रवेश, निजाम सरकार का पतन ये सब मेरी रचना के आधार हैं।"[1] अन्यत्र उन्होंने यह भी स्वीकार किया है "संघर्ष से कला का जन्म होता है। मेरा जीवन ही एक संघर्ष है। मैंने अनेक प्रतिकूल शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष किया है। मैं आशावादी हूँ। मेरा गंतव्य विश्वशान्ति की स्थापना है और लक्ष्य जनता का समाजवाद है।"[2] निजाम के अत्याचार, दमन और तानाशाही को लक्ष्य करके उन्होंने एक कविता लिखी जो अत्यंत लोक प्रिय बनी है। यथा–

"हे निजाम बादशाह ! तुम सचमुच
पिशाच हो। तेरे जैसा राजा कभी न होगा
तार-तार काटकर तूने आग में फेंका
मेरी तेलंगाणा है कोटी रत्नों की वीणा।"[3]

उक्त कविता जेल की दीवार पर लिखी थी। अनेक युवा कवि प्रभावित हुये थे।

समाचारों पर प्रतिबन्ध लगाने के कारण संघर्ष से सम्बन्धित समाचार बहुत देरी से प्रकाश में आते थे। विसनूरि देशमुख के गुण्डों ने दोड्डी कोमरैय्या की हत्या की थी। वरंगल में रजाकार गुण्डों ने मोगलैय्या की हत्या की थी। जब यह समाचार दैनिक पत्रिकाओं में छपा तो बड़े पैमाने पर उग्र प्रतिक्रियाएँ व्यक्त हुईं। जनता विद्रोह करने में मजबूर हुई। इन घटनाओं से अनेक युवा कवि प्रभावित होकर कविताएँ लिखने लगे। अपनी रचनाओं के केन्द्र में निजामशाही की जन विरोधी नीतियाँ, रजाकारों के अत्याचार रखकर कवितायें लिखीं। इनमें प्रमुख हैं महाकवि आरुद्र, सोमसुन्दर, कुंदुर्ति आदि।

भले ही आरुद्र ने तेलंगाना के सशस्त्र संघर्ष में प्रत्यक्ष हिस्सा न भी लिया हो, लेकिन अपनी रचनाओं के माध्यम से संघर्ष के समीप पहुँच चुके हैं। तेलंगाना

---

1. दाशरथी कविता–पुरा स्मृतुलु, पृ. 1
2. वही–तीन दशक
3. ओ निजामु पिशाचमा ! कानराडु
   निन्नु बोलिनु राजु माकेन्नडेनी
   तीगेलनु तेंची अग्नियो दिंपिनावु
   ना तेलंगाना कोटिरचनाल वीणां – दाशरथी कविता, पृ. 4

के किसानों के प्रति गहरी सहानुभूति जताते हैं। जनता का दुख दर्द अपना दुख-दर्द समझते हैं। इनकी प्रमुख रचना 'त्वमेवाहम' इस संदर्भ में बहुत प्रसिद्ध हुई है। निजामशाही के विरुद्ध संघर्ष कर रही जनता को उत्साहित करने में इस रचना का अपना महत्त्व है। जनता के प्रति उनका संदेश था–जिस प्रकार छोटी-छोटी चींटियाँ मिलकर सर्प का अन्त करती हैं उसी प्रकार जनता एकत्रित होकर निजाम तानाशाही का अन्त करे। निम्न कविता इस संदर्भ में उल्लेखनीय है–

> "नन्हीं-नन्हीं चींटियाँ
> ताकतवर साँप
> सपना है भयावह।"[1]

आरुद्र ने समस्या का दूसरा समाधान 'घड़ी' के रूप में दिया है। "घड़ी हमारा समाज है। घंटे उच्च वर्ग हैं। मिनट है मध्यवर्ग के लोग। सेकेन्ड आम जनता है। रेत की घड़ी, जल की घड़ी पुराने समाज की प्रतीक हैं। 'स्टाफ वाच' 'क्रांति' को 'टाइम' प्रदान करने वाला साधन है।"[2] वास्तव में आरुद्र कृत 'त्वमेवाहम' तेलुगु साहित्य के इतिहास में नयी कविता का आंतरिक दस्तावेज है। जिसमें कथ्य और शिल्प के स्तर पर नवीनता को लिये हुए एक नयी टेकनीक अपनायी गयी है। आधुनिक विश्व साहित्य में टी एस. ईलियट कृत 'दि वेस्ट लैंड" काव्य का जो महत्त्व है आधुनिक तेलुगु साहित्य के इतिहास में वही महत्त्व आरुद्रकृत 'त्वमेवाहम' काव्य का है। महाकवि श्री. श्री. ने 'त्वमेवाहम' के लिए लघु टिप्पणी प्रस्तुत करते हुए दो बातों की ओर स्पष्ट संकेत किया है।

> 1. "समस्त भारत में तेलुगु प्रांत ही ऐसा है जो
> पूर्ण राजनैतिक चेतना से लैस है।
> 2. "समस्त भारतीय भाषाओं में तेलुगु भाषा ही
> नयी कविता के लिए शीर्षस्थ है।"[3]

पहली बात की पुष्टि के लिए तेलंगाना की कृषक क्रांति है तो दूसरी के लिए आरुद्र कृत 'त्वमेवाहम' ही प्रत्यक्ष साक्षी है।

प्रमुख प्रगतिशील कवि सोमसुन्दर ने तेलंगाना के किसानों के मुक्ति संग्राम से प्रभावित होकर 'वज्रायुधम' काव्य की रचना की है। उन्होंने निजाम और रजाकारों के दमन और अत्याचारों के प्रति तीव्र आक्रोश व्यक्त करते हुए

---

1. चिन्न चिन्न चीमलु
   बलवंत मैना सर्पम
   भयंकर मैना स्वप्नम् – त्वमेवाहम–आरुद्र, पृ. 10
2. त्वमेवाहम–आरुद्र, पृ. 63
3. वही–पृ. 137

जनता को संघर्षोन्मुख किया है। निजाम सरकार को ललकारते हुये उन्होंने लिखा है :

> "गुलामों की हड्डियों से बना
> असुर सिंहासन तेरा
> वह देखो वह देखो हिल रहा है।"[1]

तेलंगाना के जनसंघर्ष के दौरान अनेक कार्यकर्ताओं ने अपने प्राणों को न्यौछावर किया है। शहीद हुए कार्यकर्ताओं का स्मरण करते हुए उन्होंने जो कविता लिखी है वह एक सशक्त नारा बनकर दिशापर्यंत गूँज उठी है–

> "एक वीर की आहुति से
> हजारों जन्म लेंगे
> एक लहू की बूँद से ही
> प्रलय ज्वाला दहकेगी"[2]

सोमसुन्दर ने अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रताड़ित जनता की वकालत की है। संघर्ष का सजीव वर्णन करते हुए गुरिल्ला कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहित किया है। गुलामी और निजामशाही के विरुद्ध हिन्दू मुस्लिम एक होने का संदेश दिया है। यथा–

> "हे निजाम बादशाह
> दासता से छूटने के लिये
> दानवता के विनाश के लिये
> पीड़ित हिन्दू मुस्लिम
> मजदूर हुए हैं एक।"[3]

1. बानिस जन शल्यमुलनु
   ऐंचिकूर्चि निर्मिंचिन
   नी राक्षस सिंहासन
   मंदिगदिगो कदुलुतुंदि —वज्रायुधम–सोमसुन्दर–पृ. 48
2. ओक्क वीरुडु मरणिस्ते
   वेलकोलदि प्रभवितुरु
   ओक नेत्तुटि बोट्टु लोने
   प्रलयग्नुलु प्रज्वरिल्लु —वज्रायुधम–सोमसुन्दर–पृ.48
3. निजाम पादुषा हे,
   बानिसत्व विमुक्ति कै,
   हिन्दू मूस्लिम पीड़ित
   श्रीमजीवुलु ऐकमैरी —वज्रायुधम–पृ. 47

वास्तव में तेलंगाना के किसानों के सशस्त्र जन संघर्ष के दौरान प्रत्येक कवि ने सामाजिक अन्याय, शोषण, अत्याचार और तानाशाही के विरुद्ध संघर्ष-धर्मिता को गति प्रदान की है। मार्क्सवादी साहित्यिक मूल्यों का खुले आम आवाहन किया है। वर्ग-संघर्ष का नारा देकर स्वस्थ एवं शोषणहीन समाज की स्थापना के लिये 'क्रांति' का स्वागत किया है। मार्क्सवादी सिद्धांतों को सामाजिक एवं साहित्यिक स्तर पर व्यवहार में लागू किया है। वस्तुतः संघर्ष के दौरान उत्तम कोटि का साहित्य निर्मित हुआ है। प्रगतिशील काव्यांदोलन के लिये मज-बूत आधार प्रदान किया है। हालाँकि यह बात सही है कि तेलंगाना के किसानों के संघर्ष के बाद ही भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन में बिखराव आया है। कम्यु-निस्ट पार्टी के विभाजन के अन्य कारणों के साथ-साथ तेलंगाना के किसानों का संघर्ष भी एक कारण है। संघर्ष की समाप्ती को लेकर कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर तीव्र मतभेद खड़े हुये। एक दल की जगह अनेक दलों में विभक्त हो गये। लेकिन यह भी सही है कि जिन्होंने इस संघर्ष के प्रति सही पहचान रखी है वे ही आगे चलकर व्यापक जन-आंदोलन निर्मित करने में सफल हुये हैं।

सशस्त्र संघर्ष के पश्चात् अभ्युदय कविता

तेलंगाना के किसानों के सशस्त्र संघर्ष के बाद अभ्युदय कविता के विकास में रुकावट आयी है। अभ्युदय कवि यह निर्णय करने में अक्षम रह गया कि आजाद भारत की पहचान क्या है। सत्ता दल का वर्ग-स्वरूप क्या है। उनके लिये सर्वत्र मूल्यों का विघटन, अस्त-व्यस्त वातावरण ही दिखाई दे रहा था। सन् 1947-48 के बीच की परिस्थितियों एवं तेलंगाना के किसानों के संघर्ष की वापसी से उत्पन्न परिणामों के विश्लेषण, आजाद भारत का, सत्ता दल की नीतियों के वर्ग स्वरूप व प्रकृति, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर रूस-चीन की भूमिका को लेकर कम्युनिस्ट पार्टी के अंतर्गत उत्पन्न मतभेद व खींचतान साहित्य में भी प्रतिबिंबित हुआ है। प्रगतिशील आन्दोलन बड़ी तेजी से क्षीण तब होने लगा जब सन् 1955 के आम चुनावों में कम्युनिस्ट पार्टी को घोर पराजय का सामना करना पड़ा। प्रगतिशील आंदोलन का संकट और भी गहराने लगा। इसका प्रभाव साहित्य में पड़ा। फलतः सुनिश्चित कार्यक्रम के अभाव में अभ्युदय कवि भटक गये थे। अभ्युदय साहित्य जगत में स्तब्धता छा गयी। यह स्तब्धता सन् साठ के आस-पास तक बनी रही। पुनः काव्यधारा में जड़ता आ गयी। अभ्युदय कवि की सामाजिक भूमिका का स्वरूप बदल गया। सरकार द्वारा गठित अकादमियों से जमींदारी रूढ़ियाँ पुनः प्रतिष्ठित हुईं। फिल्मों से निर्मित आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था ने कवियों की सृजनात्मक प्रतिभा को 'बिकाऊ' बना दिया।[1] प्रगतिशील आंदोलन

---

1. तेलुगु लो कविता विप्लवाला स्वरूपम्–वे. नारायणराव–पृ. 143

से जुड़े बड़े से बड़े कवि सत्ता एवं धन के अधीन हो गये।

इस स्तब्धता के बावजूद मार्क्सवादी सिद्धांतों को रूप देने के प्रयत्न किये गये हैं। संघर्षकामी चेतना और मार्क्सवादी साहित्य चिंतन तत्कालीन अभ्युदय कविता में लक्षित किया जा सकता है। जैसा कि यह ज्ञातव्य है कि अभ्युदय कविता सामाजिक जीवन के परिवर्तन पर बल देती है। अभ्युदय कवि यह भली-भाँति जानते हैं कि आजाद भारत में असमानता, अन्याय, अत्याचार और दमन का ही राज है। शोषक-शोषित, अमीर-गरीब, ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं मिटा है। समाज में पृथकतावादी एवं प्रतिक्रियावादी ताकतों का ही वर्चस्व है। शहरी सभ्यता निरन्तर प्रदूषित होती जा रही है। नवीनतम वैज्ञानिक उपकरणों के आविष्कार के बावजूद भी भारत की जनता अन्धविश्वासों से आक्रांत है। अतः इन तमाम विषमताओं को हटाने और सुव्यवस्थित समाज के निर्माण के लिये अभ्युदय कविता पहल करती है और यह घोषित करती है कि समाजवादी व्यवस्था में ही आम आदमी चैन से जी सकता है। समाज की स्थापना के लिये अभ्युदय कवि, जनता को एक होने का संदेश देते हैं और आम जनता में विद्रोही स्वर फूँकते हैं–

"आने वाला सच क्या है ?
एक ही तो सोषलिजम है
कंधा-कंधा मिलाओ
कदम-कदम बढ़ाओ।"[1]

अभ्युदय कवि की सामाजिक ऐतिहासिक एवं प्रगतिकामी चेतना निम्न-लिखित कविता में परिलक्षित है–

"एक राह है ··
मुहंजादड़ों के खण्डहारों की गहराइयों की ओर,
शताब्दियों की मिट्टी की परतों के नीचे कोयला बने हुये
प्राचीन सभ्यता के गर्भ की ओर
डूबे हुये सूरज की लीकों की ओर।
दूसरी राह–
मस्तिष्क में टिके हुये मेरे घर की ओर।"[2]

---

1. रानुन्नदि ऐदि विजय
अदि ओक्कटे सोषलिजम
कल्पंडोय बुजम-बुजम
कदलंडोय गजम गजम —दाशरथी कविता–पृ. 134

2. मोहंजोदारो शिथिलाल लोतुलोकि
शताब्दाला मट्टिपोरल क्रिंदि बोग्गै पोइन पुरातन

(शेष पृष्ठ 88 पर)

उक्त कविता में दो मार्ग प्रस्तुत हैं। एक प्राचीन सभ्यता के गर्भ में प्रवेश कर विश्लेपित करने का है जो डूबे हुये सूर्य की लीकों की ओर अग्रसर है। स्पष्ट है कि यह मार्ग अतीत से अर्थात् पुरातन जर्जरित भावनाओं से सम्बन्धित है। दूसरा मस्तिष्क में टिके हुये घर की ओर है जो वर्तमान समाज के यथार्थों की ओर उन्मुख है। जीवन की वास्तविक घटनाओं के उद्‌घाटन के लिये बाधित है।

अभ्युदय कवि नवीनतम वैज्ञानिक उपकरणों के आविष्कार के साथ विकसित पूँजीवादी सभ्यता के मानव जीवन पर पड़े प्रभाव विश्लेषित करता है। औद्योगिक क्रांति का यह परिणाम हुआ है कि मनुष्य का जीवन मशीन की तरह बन गया है। मनुष्य जीवन के सभी पक्षों को अर्थ ने प्रभावित किया है। शहरी-सभ्यता के विकास क्रम में मानवीय मूल्यों का लोप होने लगा। अभ्युदय कवि ने स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय परिवेश के शहरी जीवन के विभिन्न रूपों का बड़ी कुशलता से वर्णन किया है। आरुद्र की यह कविता इसका प्रमाण है—

'[1]यह नगरी-नागरी तुम्हारी धर्म पत्नी नहीं है,
रखेल तो कतई नहीं है।
बारिस में भीगकर भी
प्यार न जता सकने वाली
चिथड़े पहने
बदसूरत भिखारिन-सी है वह
नीरस रूप में थी
प्रेम न जता सकने वाली
व्यर्थ वैरागिन है यह नगरी !
सूखी नदी के पके पत्तों का मर्मर रव
ऊँचे उठे झंडे
सब गिर गये जमीं पर,
गड़े तम्बु सब उखड़ गये,
एलेक्शन के प्रचार से !
व्यर्थ का आवागमन,
झूठे वादों की तरह
बेमतलब का ट्रेफिक

नागरिकता गर्भम लोकि,
सूर्युडु अस्तमिंचिन जाडल्लोकि वोकदारि,
मरोदारि
मस्तिष्कम लोकि माइंटिकि —दाशरथी कविता—पृ. 240

सवेरे-सवेरे रास्ता काटने वाली
विधवा-सी है यह नगरी
जबरदस्ती की गयी शादी की अभागिन दुलहन
गूँगे की भावाभिव्यक्ति-सी,
हिजड़े की तीसरी शादी सी
औरत की मूँछों की तरह
उग आये नये मुहल्लों के साथ,
कुबड़े की पीठ से
उग आये मुहल्लों के साथ
यह नगरी तुम्हें बुलाती है।"[1]

अभ्युदय कवि ने नगर के विलासमय जीवन का व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया है जो सामंतवादी एवं पूँजीवादी मूल्यों पर प्रत्यक्ष प्रहार है। इस संदर्भ में तिलक की यह कविता द्रष्टव्य है–

"फिर भी यौवन घटा नहीं, लावण्य मिटा नहीं
महबूब जिंदाबाद
आज भी फ्यूडल रहस्य छिपाने में समर्थ
इक्षुधन्वा की नगरी है हैदराबाद।"[2]

'विशाखपत्तणम' शीर्षक कविता में श्रीरंगम नारायण बाबू ने प्रदूषित नगर जीवन का यथार्थ चित्रण अंकित किया है–

जैसे–

"यहाँ
स्वर्ग नरक
सुरभित हो
दुर्गन्ध फैल रहे हैं।"[3]

1. कवि श्री आरुद्र संपादक एवं अनुवादक–भीमसेन निर्मल–पृ. 51-52
2. अयिना यौव्वनम तग्ग लेदु, लावण्यमु तग्गलेदु
मेहबूब जिंदाबाद
फ्यूडल रहस्याल्नि नेटिकी दाचुकुन्न
पुंड्रेक्षु कोदंडम हैदराबाद।   –अमृतम कुरिसिन रात्रि–पृ. 146
3. इक्कड
स्वर्गम नरकम
सुरभिंचि
कंपु कोडतायि।   –रुधिर ज्योति–पृ. 107

अभ्युदय कवि आम जनता के लिए समर्पित है। जनता के सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझता है। वह यह समझता है कि जन-जीवन के यथार्थों के उद्घाटन व प्रतिबिम्बन में ही कला की सार्थकता है। आजादी प्राप्त करने के बाद भी आम जनता के जीवन में कोई सुधार नहीं दिखाई देता है। तो खीझ उठता है। श्री. श्री ने लिखा है –

"आज आम आदमी
निरा निर्धन है
न खाना है, न कपड़ा है
और न रहने को मकान है
पढ़ाई लिखाई आदि मे
बिलकुल अपरिचित है।"[1]

तेलुगु की प्रगतिशील कविता को अश्लील और उग्रता से बचाने के लिये अनेक युवा कवियों ने जरूर प्रयास किया है। एक सही दिशा और सही लक्ष्य निर्धारित करने की पहल की है। ऐसे कवियों में शेषेन्द्र शर्मा प्रमुख हैं। जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यवस्था की यथास्थिति के विरुद्ध आवाज उठायी है। उनका "ना देशम ना प्रजलु" काव्य सकलन इस सन्दर्भ में बहुत ही लोकप्रिय हुआ है। उसमें उन्होंने लिखा है –

"जब भी मैं आवाज देता हूँ मेरे लिये नहीं,
पाँच करोड़ जनता के लिये भी नहीं
पचास करोड़ जनता के लिये आवाज देता हूँ
जिस पीड़ा को मैं सह रहा हूँ, मेरा देश भी सह रहा है
समस्त मानव जाति मेरी सह रही है।"[2]

---

1. ई रोजुन सामान्युडु
ऐसी लेनट्टि वाडु
कूडू, गूडू, गुड्डा
ऐवी लेनट्टि वाडु
चदुवु सामू शास्त्रम
ऐवी एरुगनि वाडु — खड्ग सृष्टि–पृ. 43

2. नेनेप्पुडू गोंतेत्तिना ना कोसम कादु
मैदु कोट्ला मंदिकोसमू कादु
याभै कोट्ला मंदिकोसम् गोंतेत्तुतानु
नेनु पडुतुन्न बाधले ना देशमंतटा पडुतुंदि
ना मानव जाति अंता पडुतुंदि।" —ना देशम – ना प्रजलु–पृ. 9

अभ्युदय कवि ने जनतान्त्रिक व्यवस्था का सही चित्रण किया है। आजादी के बाद तथाकथित सत्ता के कर्णधारों ने किस तरह जनता को भ्रमित करने की संस्कृति शुरू की है, भारतीय जनतान्त्रिक समाज में चुनाव का असली रूप क्या है, – अभ्युदय कवि ने इसका पर्दाफाश किया है। चुनाव के समय नेता का रूप निम्न कविता में दर्शनीय है।

"एक रक्त बिन्दु भी धिड़के बिना
अहिंसा मंत्र-जप से एकदम राष्ट्र स्वातन्त्र होते ही
गोरे साहब की सीट में काला साहब वाह बैठ गया
परम उत्कृष्ट जनतंत्र राज्य में
कानून के नियाज से बिना स्त्री-पुरुष के भेद के
सबको मिल गया राइट टू बोट।"[1]

पर भारत की आर्थिक स्थिति नहीं बदली है। गाँवों में भूस्वामियों का ही प्राबल्य है। कृषि योग्य भूमि चन्द लोगों के हाथों में केन्द्रित है। भूस्वामियों के इशारे पर ही राज्य के सारे करोबार चलते हैं। वास्तव में राजनीतिक नेता भी यही हैं। व्यापारिक एवं वाणिज्यिक संस्थाओं के अध्यक्ष और कम्पनियों तथा रैस मिलों के ठेकेदार भी यही हैं। अभ्युदय कवि ने इसे खूब पहचाना है।

आजादी पूर्व और आजादी के बाद की स्थिति को रेखांकित करते हुये अभ्युदय कवि ने लिखा है–

"सुई खड़ा करने के लिए आवश्यक जगह भी
उन दिनों में राजा नहीं देते थे,
हजारों एकड़ की भू-माता को
अपनी रखैल बनाकर
मांड पीने से भी वंचित करोड़ों जनता के पेटों को
खड़े-खड़े सुखा देने वाले भूस्वामी और साहब आज हैं।"[2]

1. वोक्खा रक्तम बोट्टु गूडा चिंदकुंडा
अहिंसा मंत्र जपमवल्लने अमांतम जातिकि स्वातंत्र्यम रागा
तेल्लदोर सीटलो नल्ल दोर भेषुग्गा आसीन उच्चाडु
परमोत्कृष्ट प्रजातन्त्र राज्यांगचट्टम
प्रसादिंचिदि आडा मगा तेडा लेकंडा
अंदरिकि राइटू वोट – विषाद भारतम : सी. विजयलक्ष्मी–पृ. 39

2. सूदि मोपिनंद नेलनैना इव्वानि राराजुलु नाडुंटे
वेलादि वेल एकराल भूमातनु
तम उंपुडु कत्तेनु जेसुकुनि (शेष पृष्ठ 92 पर)

फलतः सबसे बड़े जनतांत्रिक देश में जनतन्त्र का रूप ही बदल गया है। अब जनतन्त्र –

"आधुनिक जनतन्त्र का अर्थ सूरजमुखी है
आधुनिक जनतन्त्र का अर्थ वेश्या की हँसी है
आधुनिक जनतन्त्र एक प्रास्टिट्यूट है।"[1]

अभ्युदय कवि इस अमानवीय व्यवस्था एवं शोषण के नाश के लिए विद्रोह करते हैं और घोषित करते हैं –

"विप्लव ऋषि हूँ
विद्रोह कवि हूँ।"[2]

अभ्युदय कवि आशावादी है। वह आहत आदमी को राहत प्रदान करने का पूरा प्रयास करता है। भविष्य की मंगल कामना करते हुए आश्वासन देते हैं कि कल का भविष्य उज्ज्वल है। जैसे –

"कल का उदय मेरे
अन्दर फुसफुसाने लगा है
हे मनुष्य ! तेरा भविष्य
उज्ज्वल है।"[3]

समस्त बन्धनों से मुक्ति पाने के लिये, स्वस्थ समाज निर्मित करने के लिए, सर्वहारा वर्ग के राज्य की स्थापना के लिये क्रांति का स्वागत करता है। सामा-

गंजिदागडानिकैना गतिलेनि कोट्लादि जनता संदोहम कडुपुलु
निलुवुन माड्चेसे भूस्वामूलू बइददलू नेडुन्नरु।

–विषाद भारतम : सी. विजयलक्ष्मी, पृ. 37

1. आधुनिक प्रजास्वाम्यम मंटे पोद्दुतिरुगुडु पुव्वु
आधुनिक प्रजास्वाम्यम मंटे सानिदानि नव्वु
आधुनिक प्रजास्वाम्यम ओक प्रास्टिट्यूट

–विषाद भारतम–सी. विजयलक्ष्मी–पृ. 21

2. विप्लव ऋषिनि
विद्रोह कविनि

–रुधिर ज्योति : श्रीरंगम नारायण बाबू – पृ. 21

3. रेपटि उदयम नालो
लोपल गुस गुस लाडेनु
मनिषी ! नी भविष्यत्तु
महोज्ज्वलंगा वुंदनि – सी. नारायण रेड्डी
(तेलुगु कविता विकासम : के राम मोहन राय–पृ. 270 से उद्धृत)

जिक संघर्ष को कविता में वाणी देते हैं। यथा –

"युग धर्म चेतना है, जन हृदय संघर्ष है
विद्रोह ! विद्रोह ! विद्रोह ! विद्रोह !
सुनो विप्लव की दुन्दुभी का सुनाया हुआ संदेश
भुवि की समस्त संपत्ति के अधिकारी हैं मनुष्य ।"[1]

अस्वस्थ समाज की जगह नवीन सृष्टि की कल्पना अभ्युदय कवि ने की है–

"धरती माँ के पूर्ण गर्भ-सा
ऐशिया खंड उमड़ पड़ा है
नव जगत का योनिद्वार
भारत जाग उठा है ।"[2]

स्पष्ट है उक्त कविता में नवीन सृष्टि का स्वागत किया गया है। कवि की कल्पना है कि धरती माँ के पूर्ण गर्भ की भाँति एशिया खण्ड उमड़ पड़ा है। शोषण दमन के विरुद्ध भारत जाग रहा है। अतः नवीन सृष्टि होने वाली है –

वस्तुतः अभ्युदय कविता के अन्तर्गत आधुनिक जीवन के यथार्थों से साक्षात्कार करते हुए पूँजीवादी व्यवस्था के नाश की कामना की गयी। मार्क्सवादी सिद्धान्तों के आधार पर नवीन समाज का प्रतिपादन किया गया। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिवेश में अभ्युदय कवि ने समकालीन स्थिति के प्रति आलोचनात्मक, सृजनात्मक, कलात्मक पद्धति अपना कर वास्तविकता के आधार पर साहित्यिक मूल्यों की रक्षा करते हुए श्रेष्ठ साहित्य निर्मित किया है।

अभ्युदय कविता आंदोलन जब तेज गति पर चल रहा था तो कविता के लिये विषय ही मुख्य था। लेकिन जैसे ही अभ्युदय कविता में स्तब्धता छाने लगी तो कविता के 'रूप' (Form) की प्रमुखता बढ़ने लगी। इसी रूपवादी आंदोलन के परिणाम स्वरूप वचन (गद्य) कविता का विकास हुआ है। कविता के शिल्प के स्तर पर नये-नये प्रयोग होने लगे हैं। इस संदर्भ में प्रमुख कवि कुंदुर्ति का कहना है–"चाहे प्रेम कविता हो या अभ्युदय कविता कोई नयापन नहीं है। पुराने

1. युग धर्म : चैतन्यम – रु जन हृदयं पोराटं
तिरुगुबाटु : तिरुगुबाटु ! तिरुगुबाटु ; तिरुगुबाटु !
इदिगो ! विप्लव दुंदुभि विनिर्पिंचिन
भुवि समस्त संपदलकु आधिनायुलु मानवुलट–वज्रायुधम–सोमसुन्दर ! पृ. 10

2. अवनी माता पूर्ण गर्भम ला
आसिया खंडम उपपोंविदि
नव प्रपंचम योनि द्वारम
भारतम मेलुकुंटुंदि —खड्ग सृष्टि : श्री. श्री. पृ. 38

ढर्रे पर ही चल रही है और कवि की दृष्टि हमेशा अभिव्यक्ति की पद्धति (Expre-ssion) और शिल्प (Technique) पर ही रहती है। लेकिन जीवन के यथार्थों का चित्रण नहीं हो रहा है।"[1]

कविता की उक्त पृष्ठभूमि से नये आंदोलन उभरे हैं। तेलुगु साहित्य के इतिहास में सन् 1960-1977 के बीच मार्क्सवाद सिद्धांत एवं माओत्सेतुंग की विचारधारा के आधार पर रचित कविता का उग्र स्वरूप मिलता है। दो कविता आंदोलन प्रमुख रूप में मिलते हैं। एक दिगम्बर कविता आंदोलन है तो दूसरा विप्लव कविता आंदोलन। दोनों का आधार मार्क्सवाद बताया गया है। लेकिन विप्लव कविता की तुलना में दिगम्बर कविता में कुछ अधिक उग्रता एवं वैयक्तिक भावनाएँ उपलब्ध हैं।

१. दिगम्बर कविता

बदलते हुए समय और मूल्यों के साथ-साथ व्यवस्था में परिवर्तन आना स्वाभाविक है और इस परिवर्तित स्थिति में पुराने एवं नये मूल्यों के बीच टकराव अनिवार्य है। मानव इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब समाज में परिवर्तन हुआ है तब-तब विरोधी ताकतों के बीच संघर्ष चला है। और इस संघर्ष में प्रगतिशील ताकतों की विजय हुई है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा आधुनिक समाज अनेक अन्तर्विरोधों से गुजर रहा है जिसकी गतिविधियाँ प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगोचर होती हैं जो किसी न किसी रूप में व्यक्ति जीवन को प्रभावित करती हैं।

इतिहास गवाह है कि व्यवस्था जब संकट से गुजरती है तो उसकी प्रतिक्रिय सबसे पहले युवा पीढ़ी के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। विश्व के विभिन्न भागों में हुए सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों में युवा पीढ़ी का महत्त्वपूर्ण योगदान दान रहा है।

राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं बल्कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी सन् साठ के बाद अराजकता और अस्थिरता का राज नजर आता है जो नयी भावनाओं एवं नयी संवेदनाओं के साथ एक नयी दिशा की ओर पहल करने का आग्रह करता है कि शोषण मुक्त समाज एवं स्वस्थ मूल्यों की स्थापना हो सके। वर्गहीन समाज और मूल्यों की कल्पना या उसकी स्थापना के लिए पहल करना इस समय की युवा पीढ़ी की प्रमुख प्रवृत्ति रही है।

जब देश में आर्थिक-राजनीतिक संकट बढ़ता हो, अस्थिरता फैलती हो, भ्रष्टाचार, छल-कपट, धोखेबाजी इत्यादि विकृतियाँ ताण्डव नृत्य करती हों तो सहज ही आम आदमी इन विकृतियों के नाश के लिए विद्रोह करने में मजबूर हो

1. 'नवत' कुंदुर्ति आंजनेयुलु–अंक 3, अप्रैल 1963, पृ. 145

जाता है। ऐसे अवसर पर कुछ लोग व्यक्तिगत हैसियत से स्वतन्त्र आंदोलन चलाया करते हैं तो कुछ लोग आस-पास की दुनिया में घटित घटनाओं से प्रभावित एवं प्रेरित होकर संगठनात्मक चेतना को गति प्रदान करते हैं। यह बात सही है कि हर आंदोलन प्रगति नहीं हो सकता और हर प्रयत्न आंदोलन का रूप नहीं ले सकता। इतिहास के पन्ने उलटने पर ऐसे कई आंदोलन मिलते हैं जो आकार और प्रकृति से छोटे होते हुए भी जनता को जागृत करके व्यापक आंदोलन में परिवर्तित हुए हैं और ऐसे भी आंदोलन मिलते हैं जो अप्रतिम आकांक्षाओं से उभर कर अत्यन्त कम समय में ही पुराने मूल्यों की जड़ों को हिलाकर रख दिये।

इसका स्पष्ट परिचय सन् साठ के बाद की तेलुगु कविता में मिलता है। सन् 1965 से 1968 तक के तीन वर्ष की अवधि में केवल तीन काव्य संग्रहों के माध्यम से तेलुगु साहित्य में तीव्र गति के साथ नयी आशाओं एवं नये विचारों को स्थापित करके जन संघर्ष को गति एवं दिशा देने का प्रयास करती है जो दिगम्बर कविता के नाम से प्रसिद्ध है। जिस समय तेलुगु साहित्य में दिगम्बर कविता का उदय हुआ है उस समय साहित्य क्षेत्र में ही नहीं देश के आर्थिक-राजनैतिक क्षेत्रों में भी अस्थिरता एवं अराजकता के काले बादल मँडरा रहे थे।

अभ्युदय कविता की अक्षमता और खोखलेपन से दिगम्बर कविता की पृष्ठभूमि बनती है। अभ्युदय कविता के अधिकांश कवि सत्तादल के प्रगतिशील मुखौटे के जाल में फँसकर प्रतिक्रियावादी तवा प्रगति-विरोधी शक्तियों के झुंड में शामिल हो गये थे। ऐसी स्थिति में जागरूक युवा-पीढ़ी को तीव्र मोहभंग का सामना करना पड़ा। इनके आगे एक ही मार्ग दिखायी दिया कि इन सामाजिक-इतिहास विरोधी ताकतों के विरुद्ध आवाज बुलंद करते हुए वर्तमान शोषण व्यवस्था के साथ विद्रोह किया जाय। इसी क्रम में, हैदराबाद में छह युवा कवियों ने मिलकर अपनी बेचैनी को जन संघर्ष में बदलने का संकल्प लिया। उन्होंने पूर्व प्रचलित प्रवृत्तियों एवं मान्यताओं को नकारते हुए कथ्य एवं शिल्प के स्तर पर नयेपन की खोज करते हुए अपनी काव्य यात्रा शुरू की। कविताओं के प्रकाशन और काव्य संग्रहों के उद्घाटन में नये मूल्य तलाशते हुए इन कवियों ने अपने कुल और जाति को सूचित करने वाले अपने असली नामों की जगह नये नाम घोषित करके कविताएँ लिखी हैं। वे कवि हैं-चेरबंडराजु (बी. भास्कर रेड्डी), नग्नमुनि (एम. एन. केशव राव), निखिलेश्वर (यादव रेड्डी), ज्वालामुखी (वीरा राघवाचार्युलु) महास्वप्न (के वेंकटेश्वलु) और भैरवय्या (मन मोहन सहाय)। दिगम्बर कवियों ने बड़ी तेज गति से व्यवस्था पर आक्रमण किया है। इनकी तीव्रता और उग्रता के आगे आलोचक ठप्प हो गये थे। वास्तव में वह एक शाक ट्रीटमेंट थी। "इस देश और भूगोल में सांस ले रहे हर व्यक्ति अपने अस्तित्व के

लिये तरसाकर भविष्य को देखकर रो-रो कर, पागल होकर लिखी गयी कविता"[1] के रूप में दिगम्बर कवियों ने अपने कविता विधान को स्पष्ट किया है।

जिस देश में अत्याचार, अन्याय, दमन और शोषण दिन-दिन बढ़ता जा रहा हो, राजनीतिक पार्टियों की सिद्धांत हीनता की भरमार हो, सत्ता वर्ग की विफलताएँ तथा सामाजिक विसंगतियाँ आदमी को आतंकित करती हों, ऐसे देश में जागरूक नागरिक का अमन-चैन से रहने की कल्पना करना हास्यास्पद ही होगा। साठ के बाद युवा पीढ़ी के कवियों ने सुषुप्त जनता को जगाया और अपने अधिकारों के लिये लड़ने के लिये मजबूर किया। इन कवियों ने शोषणतन्त्र पर टिकी हुई व्यवस्था के आमूल नाश को ही अपना परम कर्तव्य समझा। दिगम्बर कवियों का यह मंतव्य ही है "आज मानव आधुनिक संसार की सृष्टि करना चाहता है। आज की क्रांति का उद्देश्य शोषणहीन समाज को निर्मित करना है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था इने-गिने लोगों से बनायी गयी है। समाज में यही मुट्ठीभर लोग अपने अधिकार और बल के द्वारा आम जनता की आजादी को हड़प रहे हैं। इस प्रकार की व्यवस्था के नाश के लिये जनता तड़प रही है। किन्तु उनके लिये सुनिश्चित मार्ग नहीं है। मार्गहीन जनता को मार्ग दिखाने तथा एक सामाजिक क्रांति लाने के लिये दिगम्बर कविता का आविर्भाव हुआ है।"[2] दिगम्बर कवि स्वस्थ मूल्यों की स्थापना एवं नये समाज का निर्माण करने का दृढ़ संकल्प लेते हैं। किताबों के माध्यम से न कहकर जीवन की वास्तविक गतिविधियों के अनुभव के माध्यम से कहने का साहस करते हैं।[3]

दिगम्बर कविता आंदोलन को लेकर साहित्यकारों में तीव्र मतभेद हैं। प्रमुख प्रगतिशील कवि ने दिगम्बर कविता के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुये कहा है–"वे (दिगम्बर कवि) प्रगतिशील लेखन नहीं कर रहे हैं। केवल जागृति के नाम पर ध्वंसात्मक रचनाएँ कर रहे हैं।"[4] जबकि श्री. श्री. कहते हैं– "दिगम्बर कविता में मुझे पोयट्री दिखाई देती है।"[5] राममोहन राय का कहना है–"सामाजिक अन्याय के प्रति दिगम्बर कवियों का क्रोध सही लगता है। उनके भावावेग में प्रस्फुटित कवियों की वाणी में कवितात्मकता चमक उठी है।"[6] वेल्चेरु नारायणराव का यह मत भी उल्लेखनीय है। "दिगम्बर कवियों की चेतना

1. दिगम्बर कवुलु–दिगम्बर शकम लोकि (तीन काव्य संग्रहों का संकलन)
2. विस्तार के लिये–दिगम्बर कवुलु (तीन काव्य संग्रहों का संकलन के वक्तव्य)
3. वही
4. आधुनाकांध्र कविता समीक्षा–के. वी. आर. नरसिंहम–पृ. 568 पर उद्धृत
5. सृजना–फरवरी 1970–श्री. श्री. (भेंटवार्ता)
6. तेलुगु कविता विकासम–राममोहन राय–पृ. 325

एक रूप चेतना नहीं है। क्षीणोन्मुख मूल्यों के प्रति विद्रोह का तत्व दिगम्बर कवियों का सामान्य लक्षण है। किन्तु कवियों के रूप में उनके अलग-अलग व्यक्तित्व हैं।"[1]

वस्तुत: दिगम्बर कवि स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय सामाजिक व्यवस्था, राजनैतिक अराजकता, धार्मिक कट्टरता, साहित्यिक स्तब्धता एवं आर्थिक विषमता का विरोध करते हैं और जनता की निष्क्रियता पर खीझ उठते हैं। अन्तत: यदि दिगम्बर कविता एक संगठनात्मक एवं निर्माणात्मक आंदोलन न भी हो तो उसका एक सुनिश्चित लक्ष्य अवश्य था-"सामूहिक (समूहगत) प्रयोजन।"[2] इसी सामूहिक प्रयोजन के आलोक में दिगम्बर कविता सामाजिक परिवर्तन के लिये उपक्रम करती है। निर्माणात्मक समाज की स्थापना के लिये मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत को आधार मानती है और यह घोषणा करती है-"जब तक इस धरती पर भूख, दरिद्रता आच्छादित होकर रहेगी तब तक मार्क्सवादी दृष्टिकोण के प्रति प्रश्न-चिन्ह लगाने का अधिकार किसी को नहीं है।"[3] (दिगम्बर कवुलु-पृ. 69) ज्वालामुखी की निम्न कविता विद्रोही भावनाओं को भरती है। जो स्पष्टत: संघर्ष-कामी चेतना को उजागर करती है।

"दीनता में घिरा हुआ जानवर भी
आत्महत्या का आश्रय नहीं लेता है
आदमी की हार आत्महत्या है।"[4]

दिगम्बर कवि वर्तमान समाज की विषमताओं का अवलोकन करते हुये सबको खरी-खरी सुनाते हैं। उदाहरणार्थ निम्न कविता द्रष्टव्य है-

"पंडित जी ! रिकार्ड-सा मुँह मत घुमाओ
नव सृष्टि को परिहृत न करो
भाव कवि के नपुंसक हावभावों पर सवाल,
अभ्युदय कवि, अफीम खाकर तू सो गया है
नयागरे के जल प्रपात में
कूदने में असमर्थ मेरे भाई
गुडबाई ! आप सबको सलाम-ए-लेकुम
गद्य नहीं नहीं ! कविता कतई नहीं है।"[5]

1. तेलुगु लो कविता विप्लवाल स्वरूपम-वेल्चेरु नारायणराव-पृ. 148
2. साहित्य विमर्श-परामर्श-चेकूरि रामाराव-पृ. 58
3. दिगम्बर कवुलु-पृ. 69
4. दैन्यम तो दिगजारिन पशुवु सैतम
   आत्महत्या नाश्रयिंचदु
   'मनिषि ओटमि आत्महत्या' -दिगम्बर कवुलु, पृ. 237
5. पंडितवर्या ! रिकार्डुला नोरु तिप्पकु
   नव सृष्टि नि कालदन्नकु (शेष पृष्ठ 98 पर)

दिगम्बर कवि ने यह अनुभव किया है कि आधुनिक जीवन के यथार्थों के उद्‌घाटन में कविता अब अक्षम रह गयी है। अतः जीवन के यथार्थों के उद्‌घाटन के लिए कविता का रुख और स्वर बदलना होगा। इसी क्रम में दिगम्बर कविता का श्रीगणेश हुआ है। आदमी के अन्दर निहित सत्य को प्रकाश में लाने के लिए छल-कपटहीन खुशहाली समाज के निर्माण के लिए, व्यवस्था की यथास्थिति को बनाये रखने वाली राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि संस्थाओं में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिये, जड़ीभूत आन्ध्र प्रान्त में व्यापक जन संघर्ष छेड़ने के लिए मार्क्सवादी, लेनिनवादी एवं माओ के सिद्धान्तों के क्रांतिकारी पहलुओं के आलोक में दिगम्बर कवि अग्रसर होते हैं। चेरबंडराजु की यह कविता कवि के विश्व दृष्टिकोण स्पष्ट करने के साथ-साथ अमानवीय व्यवस्था को ललकारती है –

"भूख, वासना, स्वप्न और आँसू
मनुष्य का मर्मज्ञान एक ही है
देश का भेद भले ही हो सारी मिट्टी एक ही तो है।
माँ चाहे कोई भी हो दूध का स्वाद एक जैसा ही होता है
फीके चेहरों से क्या देखते हो ?
पागल कहकर केस पुटप करो
कटघरे पर मुझे चढ़ने दो।"[1]

चेरबंडराजु की यह कविता कवि को पागल नहीं बनाती है बल्कि पाठकों के हृदय को अपने वश में कर लेती है। संघर्षशील लेखक के लिये ऐसी कविताओं का सृजन करना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है।

भावकवुल नपुंसक हावभावालकु सवालु
अभ्युदय कवि, नल्लमंदु तिनि निद्रणेयात
नयागरा जलपातम लो
दूकलेक पोयिन अन्नय्या !
गुडबै ! मीकंदरिकि सलाम आलेकुम
वचनमु लेदु ! कवित्वम् अंतकंटे लेद — दिगम्बर कवुल–पृ. 7

1. "आकलि, कामम, कललु, कन्नील्लु
मनिषि लोनि मर्मज्ञानमंता ओक्कटे
देश मेदैते नेमि ? मट्टंत ओक्कटे
अम्मा ऐवरैतेनेम ? चनुबाला वीपंता ओक्कटे
बिक्का मुखालतो चूस्तारेम ?
पिच्चिवाणिगा केसु पुटप चेय्यंडी
नन्नेक्कनिव्वडी-बोनु" — दिगम्बर कवुलु – पृ. 18

दिगम्बर कवि समाज में निहित असमानताओं को दूर करने के लिये उग्र शब्दों का प्रयोग करते हुये जन प्रतिबद्धता और जन संघर्ष मुखरित करते हैं। चेरबंड राजु की कविता में ही नहीं दिगम्बर कवियों की रचनाओं में जितनी उग्रता, तीव्रता और अश्लीलता दिखाई देती है उतनी ही जन प्रतिबद्धता और मानवीय चेतना वर्तमान है। उनकी प्रत्येक रचना में जनता को आतंकित करने वाली विभिन्न समस्याओं का वर्णन और उन समस्याओं से मुक्ति पाने का संदेश ही उपलब्ध होता है। मनुष्य को सचेत करने का स्वर भैरवैय्या की निम्न कविता में दर्शनीय है–

"मनीषी
मानवता के निगमागम ऋषी
जागो।"[1]

निरन्तर बढ़ते हुए चीजों के भावों से मध्यवर्गीय व्यक्ति वंचित रहता है। उन्हें केवल चीजें देखकर ही संतुष्ट रहना पड़ता है। आर्थिक अभाव के कारण उन्हें खरीदकर अनुभव करने का प्रश्न ही नहीं होता है। मध्यवर्गीय व्यक्ति की मानसिक वेदना और दुख दिगम्बर कवि अच्छी तरह जानते हैं। मध्यवर्गीय व्यक्ति नौकरी करते हुए किस प्रकार अभावग्रस्त जीवन बिताता है और विषम परिस्थितियों के बीच अल्प सुविधायें पाकर परितोष का अनुभव करता है – इसका यथार्थ चित्रण भैरवैय्या की निम्नांकित कविता में मिलता है –

'हे भाई ! डरो मत
महँगाई भत्ता बढ़ेगी
अजगर के मुँह में मक्खी घुसेगी।"[2]

स्पष्ट है कि सरकार बढ़ती हुई दरों को नियन्त्रित न कर कर्मचारियों के लिये महँगाई भत्ता घोषित करती है। कर्मचारी भ्रम में आ जाता है कि महँगाई भत्ता बढ़ने से वेतन में वृद्धि होगी। इस प्रकार की आर्थिक स्थिति एवं सामाजिक व्यवस्था से नगर जीवन प्रभावित हुआ है। ऊपर से देखने पर नगर का बाह्य रूप लाल गुलाब-सा दिखाई देता है लेकिन वास्तविक रूप बड़ा भयानक और रक्त-सिक्त है। नगर जीवन की विभीषिकाओं का सजीव चित्रण दिगंबर कवि ने किया है। यथा –

---

1 दिगम्बर कवुलु – पृ. 53

2. अन्ना ! भयपडकु
करवुभत्यम पेरुगुतुंदि
कोंड चिलुव नोटलोकि ईगपिल्ला दूकुतुंदि
– दिगम्बर कवुलु– पृ. 124

"तुमने जो कहा वह झूठ नहीं;
इस देश का हर शहर
रिसता हुआ बड़ा घाव है
दूर से वह लाल गुलाब
पास से दिखेगा रक्त से लथपथ।"[1]

आजाद भारत में गरीब और भी गरीब होता जा रहा है। बेरोजगारी, महँगाई निरन्तर बढ़ती जा रही है। सत्ता, लोलुपता, भ्रष्टाचार, भाई भतीजा-वाद, सिद्धांतहीनता का ही वर्चस्व है। इसका मुख्य कारण हमारे चरित्रहीन नेता ही हैं। नेता की शह में ही ये सब पल्लवित एवं पुष्पित हो रहे हैं। ऐसे नेता दिगम्बर कवि की दृष्टि में कोढ़ग्रस्त हैं। कोढ़ग्रस्त नेता को सम्बोधित करते हुए दिगम्बर कवि ने लिखा है कि –

"पागल कुत्ते-सा
तुझे सड़कर पर घसीट कर
जनता के जलाने से पहले ही,
लकड़ी–बसूले के चुभने से पहले ही
सच बआओ।"[2]

दिगम्बर कवियों की दृष्टि में सत्य रेजर के समान है। वह सीजर को भी क्षमा नहीं करता है। अतः दिगम्बर कवि आदमी के अन्दर निहित 'सत्य' की खोज करते हैं। जब इन कवियों की भाव चेतना और कविता निर्माण विश्लेषित करते हैं तो अंततः यह पाया जाता है कि इन कवियों के लेखन के पीछे स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियाँ ही सक्रिय हैं। देश की अन्दरूनी परिस्थतियों ने कवि हृदय को ठेस पहुँचायी थी।

लगभग बीस साल बीत जाने के बाद भी आजाद भारत के जन जीवन में

---

1. "नीवु चेप्पिवंदि अबद्दम कादु
ई देशमुलोनि प्रतिनगरम
नव नवलाडे महाघायम
दूरमुनुंडी अदि एर्र गुलाबी
दग्गरिकि वेडिते रक्तस्रावपु व्रणम" –दिगम्बर कवुलु – पृ. 51

2. निन्नू रोड्डू मीदिकि
पिच्चिकुक्ला तरुमुकोच्चि
प्रजलु काल्चक मुंदे
कर्रलतो बरिसलतो पोढवक मुंदे
निजमु चेप्पु।" – दिगम्बर कवुलु – पृ. 218

कोई खास परिवर्तन सम्भव नहीं हुआ। बेरोजगारी, दरिद्रता, अकाल, धोखेबाजी, भ्रष्ट प्रशासन आदि विसंगतियों से जनता उलझ रही थी। जब इन चीजों का अनुभव हुआ तो जागरूक युवा कवियों ने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह प्रकट किया। इनकी रचनाओं के केन्द्र में निरन्तर पिसती जनता की चिन्ता ही निहित है।

पर बदलते हुए समाज एवं परिस्थितियों के प्रति सुनिश्चित वैचारिक प्रणाली एवं सही दृष्टिकोण न रखने के कारण अत्यन्त कम समय में ही यह काव्य प्रवृत्ति लुप्त हो गयी है। और इस धारा के युवा कवियों के सम्मुख 'सामाजिक संरचना' एवं परिवर्तन को लेकर काफी विवादास्पद अंश प्रकट होने के परिणाम स्वरूप एक दूसरे से पृथक हो गये।

फिर भी यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि तेलुगु के अभ्युदय साहित्य के क्षेत्र में जो स्तब्धता छायी हुई थी, दिगम्बर कवियों के प्रवेश से नया रूप ग्रहण किया। अनेक युवा कवि इनसे प्रभावित हुये।

वस्तुतः दिगम्बर कविता का जनवादी लेखन को सही दिशा एवं गति प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण योगदान है। अब साहित्यकार संगठनात्मक एवं निर्माणात्मक दायित्व निभाने की ओर उन्मुख हुआ। मार्क्सवादी सघर्षकामी चेतना पुनः प्रतिष्ठित होने लगी।

विप्लव कविता

दिगम्बर कवि सामाजिक अन्यायों के प्रति अपनी उग्र प्रतिक्रिया व्यक्त करने के बावजूद सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन के प्रति सही दृष्टिकोण न रखने के कारण जनता की मौलिक समस्याओं के समाधान के लिए सही मार्ग दर्शाने में अक्षम ही रहे। जनता की बेचैनी की पहचान तो अवश्य उन्होंने की लेकिन उसे संघर्ष की राह पर ले चलने में और संगठनात्मक रूप देने में असफल ही रहे। मार्क्सवादी सिद्धान्त के क्रांतिकारी तत्त्वों को व्यवहार में लाना उनके लिये सम्भव नहीं था। इसका प्रमुख कारण उनकी 'वैयक्तिक भावना' एवं सगठनात्मक संघर्ष में उनका अविश्वास। 'व्यक्ति स्वतंत्रता' उनकी दृष्टि में महत्त्वपूर्ण है। फिर भी तेलुगु साहित्य के इतिहास में उनका योगदान उल्लेखनीय है। जनवादी लेखन के लिये एक सही दिशा एवं वैचारिक प्रणाली प्राप्त हुई है। प्रमुख आलोचक चेकूरि रामाराव ने इस संदर्भ में कहा है "रूस की क्रान्ति के दौरान निहिलिस्टों की भाँति इन्होंने (दिगम्बर कवि-ले) विप्लव रचयितल संघम (क्रान्तिकारी लेखक संघ) के आविर्भाव की भूमिका तैयार की है।"[1]

सन् 70 के बाद तेलुगु कविता के इतिहास में विप्लव कविता ही केन्द्र में दिखाई देती है। संगठन के स्तर 'विप्लव रचयितल संघम' का विस्तृत प्रचार-

1. साहित्यम लो विरसम तेच्चिन मार्पू—चेकूरी रामाराव—सृजना—अक्टूबर 1980

प्रसार हुआ है। अनेक युवा कवि उसके प्रति आकर्षित होते हैं। विप्लव रचयितल संघम आविर्भूत होने में तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक वातावरण ही सक्रिय है। कम्युनिस्ट आंदोलन सन् 1962-64 के बीच फूट का शिकार बना है। भारत और चीन के बीच हुये युद्ध को लेकर कम्युनिस्टों के बीच मतभेद उत्पन्न हुये। सन् 1967 में नक्सलवादी आंदोलन शुरू हुआ था। आन्ध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम जिले में मार्क्सवादी-लेनिनवादी दल के नेतृत्व में सशस्त्र संघर्ष छेड़ा गया था। मार्क्सवादी लेनिनवादी दल ने संघर्ष को पूरे देश में फैलाने के लिए कार्यक्रम बनाया था। संगठन के केन्द्र में चारु मजुमदार, कानसन्याल थे। बड़ी संख्या में बुद्धिजीवी, छात्र-छात्राएँ, युवक आर्कषित हुये थे। श्रीकाकुलम जिले के नक्सलवादी आंदोलन के प्रति युवा पीढ़ी की दृष्टि केन्द्रित हुई थी। नक्सलवादी आंदोलन की मुख्य प्रेरणा चीन के क्रांतिकारी नेता माओत्सेतुंग की विचारधारा थी। राजनीतिक क्षेत्र में मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्तों के साथ माओ की विचारधारा को अग्रता देकर भारत में क्रांति लाने के विषय पर उग्र चर्चाएँ होने लगी थीं। साहित्यिक क्षेत्र में भी माओ की विचारधारा से प्रभावित युवा लेखक साहित्य के प्रति माओ के दृष्टिकोण स्पष्ट कर रहे थे। माओ का यह मंतव्य "जनता को जागृत करने के लिये पीढ़ियों से चली आ रही कलाओं का प्रयोग करना उचित है।"[1] साहित्य जगत् में गुंजित होने लगा। माओ के उक्त संदेश ग्रहण कर युवापीढ़ी के दर्जनों कवियों ने लोककलारूपों का समकालीन स्थिति के अनुकूल प्रयोग करके साधारण जनता के बीच क्रांतिकारी भावनाएँ प्रचलित करने का अभियान शुरू किया था जिसके नेतृत्व में विप्लव रचयितल संघम ही था। जिस प्रकार अभ्युदय साहित्य में छायी हुई स्तब्धता को दूर करने के लिये दिगम्बर कवियों ने जो प्रयास किया था ठीक उसी प्रकार दिशाहीन दिगम्बर कवियों एवं अन्य प्रगतिशील तथा युवा कवियों को एक सही दिशा प्रदान करने का आग्रह करते हुये विप्लव कविता का प्रादुर्भाव हुआ है। सामाजिक संघर्ष में गति लाने

1. We should take over the rich legacy and the good traditions in literature and art that have been handed down from past ages in China and Foreign Countries, but the aim must st ll be to serve the masses of the people. Nor do we refuse to utilise the literacy and artistic forms of the past; but in our hands these old forms, remoulded and infused with new content, also become some thi g revolutionary in the service of the people.
   –"Talks at Yenan Fourum on literature and Art."
   –Mao Tse Tung-on literature and art, p. 11-12

के लिये वैचारिक संगठन पर बल दिया गया है। विप्लव कविता संगठनात्मक रूप ग्रहण करने से पूर्व एक घटना घटित हुई थी। नक्सलवादी आंदोलन के उग्र वातावरण में सन् 1970 में श्री. श्री. के. साठ वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में विशाखपत्तणम में एक सभा आयोजित की गयी थी। जिसमें बड़ी संख्या में लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यकार उपस्थित हुये थे। सभा के दौरान विशाखपत्तणम के युवा-छात्रों ने एक 'पर्ची' बाँटी थी। पर्ची का शीर्षक था 'साहित्यकारों के लिये सवाल-।"[1] जिससे तेलुगु साहित्य जगत् में आँधी मच गयी। अब कवि अपने बारे में, अपनी रचनाओं के बारे में नये सिरे से एक नवीन दृष्टिकोण अपनाकर सोचने लगा। इसी बीच तिरुगबड्ड कवुलु (विद्रोही कवि) का कविता संग्रह प्रकाशित हुआ। इसमें यह उद्घोषणा की गयी है कि समाज में निहित शोषण मिटाने के लिये सशस्त्र संघर्ष आवश्यक है। इसी पृष्ठभूमि में श्री. श्री. ने विप्लव रचयितल संघम की स्थापना की है और घोषित किया है–

"सायुध विप्लव का अग्रणी पुरोधा बन
भारत के कुरुक्षेत्र में
नवयुग-भगवद्गीता की झझा प्रसारित करूँगा
अंगारों से बात करा कर
रक्त से रागालाप करवा दूँगा।"[2]

आलोचकों ने सन् 70 के बाद के समय को 'विप्लव कविता का युग' घोषित किया है।[3] मार्क्सवादी-लेनिनवादी तथा माओ के सिद्धांत अब साहित्य के माध्यम से आम जनता तक पहुँचने लगे। साहित्य में खुलेआम संसदीय व्यवस्था का बहिष्कार किया गया है। पुरानी पीढ़ी के कवि अब साधारण जनता के, यथार्थ जीवन चित्रित करते हुये 'बालेट' की जगह 'बन्दूक' रखकर क्रांति का आह्वान करने लगे। सर्वहारा राज्य स्थापित करने के लिये उनके लिये एक ही मार्ग सशस्त्र संघर्ष दिखाई देने लगा। 'विप्लव कवि' की परिभाषा निम्न कविता से स्पष्ट होती है–

---

1. 'रचयितलकु सवाल'–विशाख विद्यार्थुलु–करपताल दुमारम: तेरवेनुक भागोतम–सं. अनंतम।
2. सायुध विप्लव बीभत्सुनि सारथिनै
   भारत कुरुक्षेत्रम लो
   नवयुग भगवद्गीता झुमझुमनि प्रसरिस्तानु
   मंटल चेत माटलाडिचि
   रक्तम चेत रागालापन चेइस्तानु। –मरोप्रस्थानम–श्री. श्री. पृ. 27
3. उद्यमम् नेलबालुड्ड (भूमिका)–शिवसागर

"फरसे से स्वार्थ का शीर्ष
काटने वाला ही आज का हीरो (Hero) है।
जनता के पहाड़ी दिलों की ओट लेकर
ट्रिगर दबाने वाला ही द्रष्टा है।
जनता को सशस्त्र बनाने वाले–
रिवोल्यूशनरी ही आज कवि हैं।"[1]

उक्त कविता का विश्लेषण प्रस्तुत करना कठिन है। उक्त पंक्तियों में कविता का अन्त कब होता है और कब नारा बनता है कहना कठिन है। कविता में उग्रता का पूरा समावेश तो हुआ ही है लेकिन मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धांतों का व्यावहारिक स्वभाव पूर्ण प्रतिष्ठित है। कविता में कहा गया कि स्वार्थ का शीर्ष अर्थात् भौतिक लाभ की इच्छा के शीर्ष को फरसे से काटने वाला ही आज का हीरो है। दूसरे अर्थ में स्वयं परिश्रम न कर दूसरे के परिश्रम का फायदा उठाने की जो वर्गभावना है उसके नाश की कामना की गयी है। जनता अर्थात् श्रमिक वर्ग के दिलों की ओट लेकर सत्ता अर्थात् शोषण के विरुद्ध जो ट्रिगर दबायेगा वही आज द्रष्टा है। वर्ग समाज में निहित स्वार्थ, शोषण, सत्ता इत्यादि वर्ग भावनाओं के आमूल नाश के लिये जनता को सचेत एवं सशस्त्र बनाने वाले रिवल्यूशनरी ही आज कवि है। कविता में प्रयुक्त हीरो, द्रष्टा, क्रांतिकारी शब्द क्रांतिकारी कवि के ही प्रतीकात्मक शब्द हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में कवि एक 'ही रो' है। जमींदारी व्यवस्था में वह द्रष्टा है। पर आज कवि का जमींदारी और पूँजीवादी व्यवस्था के सामाजिक सम्बन्धों की सीमाओं को लाँघकर रिवल्योशनरी बनना अवश्यंभावी ही जमींदारी व्यवस्था पर आक्रमण के लिये 'फरसा' है तो पूँजीवादी व्यवस्था पर 'बन्दूक' (ट्रिगर) है। क्रांतिकारी चेतना और संघर्ष उद्भासित करने वाली उक्त कविता क्रांतिकारी कवि प्रतिक्रियावादी कवि जड़ता और चेतना के बीच के अन्तर्विरोध भी स्पष्ट करती है। कवि ने जमींदारी तथा पूँजीवादी व्यवस्थाओं के सामाजिक सम्बन्ध एवं मूल्यों को सूचित करने वाले प्रतीकों का चयन किया है। और क्रांतिकारी चेतना जोड़कर समाज में कविता की व्यावहारिकता उद्घाटित की है। उक्त कविता के कवि ने अन्यत्र एक जगह

---

1. कसितो स्वार्थम शिरस्सु गंड्रागोड्डलितो
 नरक गलिमिन वाडे नेटी हीरो
 प्रजल गुंडेल कंडल्लो माटुकासी
 ट्रिगर नोक्कगलिगिन वाडे द्राष्टा
 प्रजनु सायुधम चेस्तुन्न रिवोल्यूशनरी नेडु कवि
 –उद्यमम् नेलबालुडु–शिवसागर–पृ. 21

लिखा है कि श्रीकाकुलम जिले के नक्सलवादी आन्दोलन को तथाकथित न्यायाधीश षडयन्त्र के रूप में परिभाषित करते हैं। यथा—

"न्यायाधीश महोदय !
सूर्योदय षड्यन्त्र नहीं है।
सूर्य षड्यंत्रकार नहीं है।
पूर्ण गर्भवती की प्रसव-पीड़ा—
क्या षड्यंत्र ही है ?"[1]

स्पष्ट है कि उक्त कविता आजाद भारत की न्याय-व्यवस्था पर एक प्रहार है। व्यवस्था की यथास्थिति के विरुद्ध यदि कोई आवाज उठाता है तो उन्हें 'षड्यंत्रकार' की संज्ञा देकर 'दोषी' घोषित किया जाता है। न्यायाधीश को लक्ष्य करके कवि स्पष्ट करता है कि जिस तरह रात के बाद प्रभात का प्रवेश षड्यंत्र नहीं, सूरज षड्यंत्रकार नहीं है, जन्म देते समय कोई माँ की तड़पन षड्यंत्र नहीं है उसी प्रकार व्यवस्था के परिवर्तन के प्रयत्न षड्यंत्र नहीं हैं। कविता प्रतीकात्मक है और क्रांतिकारी चेतना से पूर्ण है।

अमीर और गरीब के बीच युग-युगों से चलते आ रहे संघर्ष चेरबंडराजू की निम्न कविता में उपलब्ध हैं—

"एक म्यान में दो तलवार
देखा सुना न कान रे,
अमीर और गरीब की
दुश्मनी है रे कब से।"[2]

चेरबंडराजु ने स्पष्ट वर्ग विभाजक रेखा खींची है और यह स्पष्ट किया है कि जिस समाज में ऊँच-नीच, अमीर-गरीब शोषक-शोषित का भेदभाव रहेगा उस समाज में दो वर्गों के बीच तनाव व संघर्ष बना रहता है। अतः वर्ण-वर्ग हीन

---

1. न्यायमूर्तुलंगारु !
सूर्योदयम कुट्रकातु
सूर्युडु कुट्रदारुडु काडु
निंडु चूलालि प्रसवेदना कुट्रेनंटावा ?
—उद्यमम् नेलबालुडु—शिवसागर—पृ. 90

2. ओक्क ओरलो रेंडु कत्तु
लिमड बोवुरो
वुन्नोडिकि लेनोडिकि
वैरमुंडुरो।
—कत्तिपाट : चेरबंडराजु—पृ. 65

समाज का निर्माण आवश्यक है। इसी वर्ण-वर्गहीन समाज की स्थापना के लिये संघर्षरत श्रमिक वर्गों की सराहना की है।

"मुक्ति के लिये
श्रमिक शक्तियाँ
रक्तार्पण कर रही हैं।"[1]

मार्क्सवाद का यह विश्वास है कि जनता ही इतिहास रचती है। यह संघर्ष के द्वारा ही संभव है। मार्क्सवादी सिद्धान्तों से प्रभावित कवि जनता को एकत्रित एवं जागृत करने को आवाज देता है और उसी जनता के साथ मिलकर शोषण के विरुद्ध लड़ने का संकल्प प्रकट करता है। वरवरराव की कविता में यह स्वर मुखरित है–

"जनता के लिये एक होकर लड़ेंगे
जनता के साथ मिलकर लड़ेंगे
संघर्ष, जनता को एक, शत्रु को अलगाने वाली शक्ति है।
× × ×
वह ऐतिहासिक क्रम प्रमाणित करने वाला –
सामाजिक सूत्र है
जनता इतिहास रचेगी"[2]

वस्तुतः विप्लव कवि की दृष्टि में सशस्त्र संघर्ष ही जनता की मुक्ति की राह है। इसलिये विप्लव कवि 'कलम हमारी है छुरी आपकी है" नारा देकर जनता को सचेत करता है और अमानवीय शोषण व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने का संदेश देता है। क्रान्तिकारी भावनाओं को मध्यवर्ग के लोगों के समीप पहुँचाने में विप्लव कविता का महत्त्वपूर्ण योगदान है।"[3]

1. विमुक्ति कै श्रमशकललु
रक्तार्पण चैस्तुन्नै।
–कत्तिपाट : चेरबंडराजु–पृ. 46
2. प्रजल कोसम ऐक्यंगा पोराडुदाम
प्रजालतो ऐक्यमै पोराडुदाम
पोराटम प्रजल्नि कलिसि शत्रुवुल्नि बिडदीसे शक्ति
× × × ×
चरित्र गतिनि निर्णयिंचे सामाजिक सूत्रम
चरित्रनु प्रजलु निर्मिस्तारु–
–स्वेच्छा–पृ. 9
3. आधुनिक तेलुगु साहित्यम लो विभिन्न धोरणुलु – पृ. 200

निष्कर्ष

स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु कविता में अपने को आत्मिक अनुभूतियों की दिशा से हटाकर भौतिक वस्तु स्थितियों की तरफ आकर्षित एवं प्रेरित होकर पहली बार, प्रकृति एवं समाज के नियमों को जानने की चेष्टा ही नहीं बल्कि सामूहिक शक्ति के द्वारा उन नियमों को बदलने की आवश्यकता महसूस की गयी है। ऐसे साहित्यिक कार्य रूपी व्यवहार ने उनके चेतनात्मक चिन्तन को भौतिक स्थितियों का सहयोग ऐसा मिला कि स्वयं वर्ग शत्रु का विरोध सीधा कार्यकर्ता के रूप में करें। ऐसे बहुतेरे कार्यकर्ता जागरूक लेखक भी बन गये । लोक चेतना के साथ कला चेतना को देशव्यापी करने की आवश्यकता इस जमीन पर महसूस की गयी है।

भौतिक स्थितियों के अनुभव के आधार पर उत्तेजित होकर संघर्ष को व्यवहार में लाने का श्रेय आन्ध्र के लोगों को मिला। निजामशाही के विरोध में जनता को जगाना और रजाकारों की नाजियों जैसी मानसिक चेतना ने संघर्ष को कार्य रूप दिया। जिसमें प्रत्यक्ष हिस्सा लेने वाले और सहानुभूति रखने वाले दोनों ने भी लोक और कला चेतना को देश व्यापी बनाने में सहयोग दिया है। अमानवीय व्यवस्था पर चोट करने की यह एक उत्तेजना थी। जनता की विवशताओं, सरकार की तानाशाही और उस समय की राजनीतिक चेतना को संघर्षधर्मी बनाया। स्वातंत्र्योत्तर भारत में आजादी की प्राप्ति के बाद में भी गुलामी के विरुद्ध और आंदोलनों को दमित करने के प्रयत्नों के विरुद्ध पहली बार सामाजिक भूमिका का निर्माण आवश्यक समझा गया है। वैसे ही रूढ़ियों के भीतर से जीवनधारी रूढ़ियों का पुनः प्रतिष्ठापन आवश्यक समझा गया है। पहली बार यहीं पर संघर्षकामी चेतना के सिद्धान्त को रूप देने का प्रयत्न हुआ। असमानता, अन्याय, अत्याचार, दमन, शोषक-शोषित एवं ऊँच-नीच का भेद, पृथकतावादी एवं प्रतिक्रियावादी ताकतों से जूझना, और निरन्तर प्रदूषित होती हुई शहरी सभ्यता के अनुभव प्रगतिकामी चेतना की राह की खोज में संगठनात्मक आवश्यकता के बोध कराते थे।

इन प्रसंगों में मार्क्सवादी सिद्धान्तों के मिलाने एवं अलगाने वाले व्यावहारिक रूपों की पहचान होती है। आन्ध्र प्रान्त के ऐतिहासिक अनुभवों के क्रम में आजादी के बाद के ऐतिहासिक क्रम में यह प्रमाणित हुआ था कि सामाजिक सूत्रों के रूप में निर्माण और संगठन दोनों तत्त्व समाज की परिकल्पना के मूल बिन्दु बनते हैं और तीसरा यह अनुभव भी था कि लोगों के समीप पहुँचना एक अनिवार्यता है। द्रष्टा के रूप में लोगों की भावना का अनुभव और चेतन स्रष्टा के रूप में लोगों की भावनाओं का संगठन और एक दायित्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में

मूल्य में आने वाले परिवर्तन की खोज साथ में जड़ता और चेतनता के बीच खड़े अन्तर का स्पष्टीकरण, समाज के निर्माण और समाज के संगठन दोनों के लिए आवश्यक महसूस किये जाते थे। इस सत्य की व्यावहारिकता का उद्घाटन तीन बिन्दुओं में हो जाता है। (1) यथार्थ, (2) सौन्दर्य तथा (3) दर्शन। बेगार प्रथा की समाप्ति की आवश्यकता, ग्राम पंचायतों के आधार पर ग्राम राज्य स्थापित करने की सफलता, चेतना को उभारने वाले आजाद भारत के युग के प्रारम्भिक यथार्थ थे। भूस्वामियों के शासन की सुरक्षा देखने के लिये जन आन्दोलन को दमित करने वाली पुलिस कारवाई का लक्ष्य भी यथार्थ था। लोक यथार्थ और वर्ग शत्रु की पहचान वास्तव में यथार्थ बिन्दु की ही समर्थना देते हैं। ऐसी युग सन्धि में अनेक कार्यकर्त्ता कलाकार के रूप में बढ़ने का यथार्थ जीवन का यथार्थ भी या साथ में कला का देशव्यापी होने का यथार्थ प्रतिष्ठापित करता है। सौन्दर्य और दर्शन के भी युग व्यावहारिकता के साथ-साथ जुड़े होने का यथार्थ भी स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है। जड़ और चेतन का अन्तर, जीवन की आवश्यकताओं की पहचान तथा प्रगति कामी चेतना के समर्थन का तत्त्व रूप प्रतिस्थापित करता है जो व्यवहार का ही समर्थक तत्त्व है।

दासता से मुक्त होने की कामना के क्षणों में हिन्दु-मुसलमान एक होने का सन्दर्भ सौन्दर्य का एक नया अभियान है। शताब्दियों की मिट्टी की परतों के नीचे की कोयला में बने हुए दो मार्ग एक सभ्यता के गर्भ की ओर डूबे हुये सूरज मार्ग और दूसरी राह 'मनवा' मार्ग। दोनों भी सुन्दर मार्ग हैं। दोनों ऐतिहासिक मार्ग के पहलू हैं। अतः स्पष्ट है कि यथार्थ, सौन्दर्य और दर्शन के तत्त्व चेतनात्मक चिंतन की वास्तविकता को उद्घाटित करने वाले व्यावहारिक अनुभव हैं। जहाँ सामूहिक शक्ति द्वारा प्रगतिकामी चेतना को झकझोरने वाली स्थिति, या बदलने के प्रयासों को व्यक्ति में और समाज में देखने का प्रयास तो करते हैं, उससे बाहर और भीतर के बदलने का सहयोग ऐसी चेतना का परिणाम होता है। कला और जीवन का भी यही प्रयास रहा है। जिसमें जनता और कार्य प्रणाली दो मुख्य तत्त्व बनकर साहित्यिक चरित्र या विकास का चरित्र निर्मित करते हैं। समाज का निर्माण और संगठन उसके लक्ष्य हैं। यहीं पर इस सवाल का आश्रय लिया जाता है कि परिवर्तन गामी तत्त्वों के व्यवहार में समाज निर्माण के लिये किस व्यावहारिक स्वभाव को स्वीकार करें। समाज के स्वरूप की समझदारी से काम लें या समाज के बदलने का हथियार हाथ में लेकर उपक्रम करें, हीरो बन कर वर्ग भावना के आमूल नाश की कल्पना कर बढ़े संघर्षकामी चेतना की दिशा का आश्रय लेता रहे या दायित्त्व की दिशा में प्रवृत्त होकर सक्रिय अनुभव का आधार लेकर विसंगतियों के प्रति विद्रोह करें, समाज के निर्माण के सूत्र को साथ में रखकर मौजूद समाज परिवर्तन की कामना करे या निर्माणात्मक समाज

की स्थापना की कल्पना के सिद्धान्तों पर विद्रोही भावनाओं को बढ़ावें, चेतना और सक्रियता के सवाल भारतीय परिवेश में जनता की चिन्ता के आश्रित होकर बढ़े हुये प्रश्न थे। अभ्युदय कविता की स्तब्धता और दिगम्बर कविता की नव्यता के सामने चेतना और सक्रियता के सवाल खड़े हुये थे। दार्शनिक रूप में पहले में जहाँ जड़ता और चेतनता के अन्तर का सवाल सूझबूझ का प्रसंग था आज चेतनता की स्तब्धता बनाम सक्रियता का सवाल है।

पहली बार भारतीय परिवेश में वैचारिक संगठन पर बल देने का लक्ष्य आन्ध्र प्रान्त में ही मुखरित हुआ। जब कि उत्तर भारत में वैचारिक भ्रम का आयामी रूप सामने आया। समाज का निर्माण या समाज का संगठन व्यावहारिक रूप में क्या है, क्या नहीं है इसकी पहचान वर्ग भावना के नाश की कामना से होती है या परिवर्तन की कामना वाली चेतना मात्र से होती है। समाज के निर्माण का यह व्यावहारिक प्रश्न अमानवीय व्यवस्था के विरोध में किये जाने वाले प्रश्न हों जिनके सामने सामूहिक प्रयोजन का लक्ष्य सामने रखकर किया जाय।

सामाजिक रचना एवं परिवर्तन, मानवीय मूल्य के लोग का विरोध, वर्तमान जनतंत्र की स्थिति, अभाव के अनुभव जैसे बदलते अनुभव को जनता की निरंतरता के केन्द्र बिन्दु नहीं बने ? जिसका अर्थ यह है कि जनता की चिन्ता की निरंतरता की खोज ही सामाजिक रचना और परिवर्तन का केन्द्र बिन्दु बने। दिगम्बर कविता का यह तर्क सक्रिय अनुभव का प्रसाद था। जिसमें संगठनात्मक रूप कम और वैचारिक स्वतन्त्रता की माँग अधिक थी। जबकि विप्लववादी लेखकों ने क्रांतिकारी लेखक संघ के निर्माण के द्वारा संगठनात्मक संघर्ष को जनवादी लेखक की दिशा बनायी है। व्यक्ति स्वतन्त्रता की माँग भी स्तब्धता के क्षणों में रूप की प्रमुखता देने का प्रयत्न था। व्यक्ति स्वतन्त्रता के सूत्र के द्वारा अस्थिरता और अराजकता के परिवेश में बेचैनी को जन संघर्ष में बदलने का संकल्प लेकर सामाजिक व्यवस्था के मूल्यों में परिवर्तन लाना, सभ्यता के विकास के निमित्त मानवीय मूल्यों का समर्थन करना और लोक कला रूपों के द्वारा समकालीन स्थितियों के अनुकूल जनता को जागृत करने में प्रवृत्त होना आवश्यक मानते हैं। वैचारिक संगठन की यह प्रणाली सामाजिक विकास एवं समाज निर्माण और सामाजिक संघर्ष के उपादान माने गये थे। क्षणोन्मुख मूल्यों के प्रति विद्रोह, सामाजिक अन्याय के प्रति क्रोध, जागृति के नाम ध्वंसात्मकता का निर्माण, सामाजिक निष्क्रियता पर खीझ उठना, स्तब्धता की प्रतिक्रिया में उत्पन्न सामाजिक रूप चेतना के अनुभव हैं। नव समाज के निर्माण के संकल्प के सामने जहाँ से सिद्धान्तहीनता और आतंकित करने वाली सामाजिक विसंगतियाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता को दबाने की स्थिति में थीं तो आन्दोलन मात्र से काम नहीं चलता।

(चूँकि आंदोलन ही प्रगति नहीं है।) इसलिए समाज रूप चेतना के अनुभव के द्वारा मूल्यों के प्रति विद्रोह करने वाली ऐसी विद्रोहात्मक कल्पना का समर्थन आवश्यक मानते हैं विद्रोही साहित्यकार। उनकी दृष्टि में समाज के सामने निर्दिष्ट मार्ग खड़ा करना ध्येय है। आन्दोलनकारी विषय के प्रतिपादन को आन्दोलन में तेजी लाने के लिए आवश्यक मानते हैं जबकि विद्रोहकारी मूल्यों के प्रति विद्रोह करने के लिए समाज के मौजूद रूप के प्रति आक्रोश कर मार्गवादी बनना चाहते हैं। मूल्य और समाज निर्माण के संकल्प में जीवन की गतिविधियों के संदर्भ लेकर निष्क्रियता एवं सक्रियता का यह जो द्वन्द्व है उसने काव्य तथा कला सृजन के धरातल में शिल्प सम्बन्धी चिन्तन की ओर दिशा बदल दिया है। काव्य में विषय प्रधान हो या उग्रता या वैचारिक भावनाओं से सम्बन्धित शिल्प रूप। संकट के क्षणों में शिल्प का आश्रय कोई लेता है मूल्यों के टकराव को सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन को रूप देने का पक्ष प्रबल होकर सामने आता है तो शिल्प सम्बन्धी उभार होता है। मूल्यों की कल्पना में शिल्प का उभार प्रयोग धर्मिता का रूप अपनाती है। पुरानी मूल्यों की जड़ें लाने के लिए व्यक्तिगत हैसियत से विकृतियों के नाश के लिए प्रयोग आवश्यक है। प्रयोग का यह शिल्प रूप मूल्यों की परिकल्पना में आवश्यक तत्त्व है। इसलिए यथास्थिति के विरुद्ध व्यवस्था के परिवर्तन के समर्थन में क्रान्तिकारी चेतना का प्रतीकात्मक रूप उभर आता है। अमीर-गरीब का संघर्ष ऐसा प्रतीकात्मक रूप उभार देता है। जमींदारी एवं पूँजीवादी व्यवस्थाओं के सामाजिक सम्बन्ध एवं मूल्यों के आधार पर व्यावहारिकता के प्रतीक के रूप में प्रतीक तत्त्व उभर आता है। अतः प्रतीक तत्त्व भी व्यावहारिक अनुभव का वैचारिक क्रम ही वैचारिक संगठन में कला का यह शिल्प सम्बन्ध भी मूल्यों की कल्पना का रूप प्राप्त कर लेता है। अतः यह स्पष्ट हो कि नवीन समाज का प्रतिपादन करने के लिये समकालीन स्थिति की आलोचना जितना महत्त्व रखती है वैसे ही नवीन सृष्टि की कल्पना में प्रतीक और शिल्प मूल्य तत्त्व का अधिकार प्राप्त कर लेती है। विषय जैसा प्रधान है वैसे ही शिल्प का भी समाज के मूल्यांकन में या नवीन समाज प्रतिपादन में व नवीन सृष्टि की कल्पना एवं उसके विकास में उतना ही महत्त्व है। संकट क्षणों में मूल्यों की कल्पना और विद्रोह के उभार का महत्त्व बेचैनी को जन संघर्ष में बदलने के संकल्प के बराबर है।

आन्ध्र के मार्क्सवादी तत्त्वों के विश्लेषण में समाज विकास, समाज की परिकल्पना, समाज का व्यवहार, समाज का निर्माण जैसे प्रश्न चेतना और सक्रियता के सिद्धान्तों से जुड़े हुये थे। उनके काव्य रूपों का विभाजन भी इन्हीं मूल तत्त्वों पर आधारित है। प्रगतिकामी और प्रगति समर्थक दो काव्य भेद हो गये हैं वैचारिक संगठन की दृष्टि से शिल्प सम्बन्धी नयेपन के समर्थक केवल विषय की

प्रमुखता नहीं देते थे। उग्रता एवं वैचारिक भावनाओं को स्थान देना उनका लक्ष्य था। और इसलिए वे गद्य और कविता भेद को कतई नहीं मानते थे तथा काव्य रूप के भेदों को गुडबाइ देते हैं। विद्रोहवादी व्यावहारिकता की दृष्टि में गीतात्मकता एवं नाट्यात्मकता को प्रमुखता देते हैं।

आन्ध्र प्रान्त का स्वातंत्र्योत्तर साहित्य वैचारिक संगठनों पर बल देता था ताकि उनका लक्ष्य समाज संगठन और निर्माण सम्बन्धित विविध विषयों और उसके रूप सम्बन्धी सूत्रों के आधार समाज के विकास में सहयोग दे सके। समाज के वैचारिक संगठन पर बल देने कला आन्ध्र का अभ्युदय साहित्य दिगम्बर कविता, विप्लव कविता मार्क्सवादी सूत्रों को सामाजिक व्यवहार के उपयोगी बनाने का विश्लेषण एवं निर्माणात्मक दिशा में व्यावहारिकता का अनुकूल मुखौटा स्थापित किया जिसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता को भी और शिल्प या लोक कला प्रयोगों की वास्तविकता को भी प्रोत्साहित किया गया है ताकि संघर्ष के रास्ते में सब का कार्यकर्ता और कलाकार का समन्वय महसूस किया जाय और चेतना तथा कार्य प्रणालियों को देश व्यापी बनाने की आवश्यकता और उसका दायित्व कलाकार और कार्यकर्ता निभा सके। दूसरा संकेत यह भी मिलता है कि काव्यां-दोलन व्यवस्था पर किये गये संघर्षों के आन्दोलन हैं। कला के संघर्ष का लक्ष्य भी यही है। कला का संघर्ष लक्ष्य और आंदोलन लक्ष्य और सक्रियता के भेदों के अनुभव भी काव्य और जीवन के साथ-साथ के उन्मेश के रूप हैं। आन्ध्र की स्वातंत्र्योत्तर कविता की यह उद्भावना अपनी निजी और मौलिक है।

तुलनात्मक अध्ययन

हिन्दी और तेलुगु की स्वातंत्र्योत्तर कविता की मार्क्सवादी प्रवृत्तियाँ एक काव्य परक हैं दूसरे विचार परक हैं। दोनों भाषियों की अपनी मौलिकता साबित होती है।

दोनों क्षेत्रों में कविता को विचार का साधन के रूप में स्वीकार किया गया। जो युग के विचार भ्रम थे हिन्दी काव्य के आधार बने थे। जो विचार संगठन के आयामी रूप थे वे तेलुगु कविता के प्राण बिन्दु बने हैं।

वैचारिक आन्दोलनों और वैचारिकता की सक्रिय प्रणालियाँ जो आन्ध्र प्रान्त के परिवेश में उभरे थे उनके काव्यांदोलनों के स्रोतों में यह अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। विषय और रूप भेद का अनुभव जो समाज के विकास में आवश्यक तत्त्व माने गये थे वैसी गहरी पैठ में जाने की आवश्यकता हिन्दी के परिवेश में नहीं उठी थी। इसलिये हिन्दी की मार्क्सवादी कविता विचार के क्षेत्र में भ्रमों और मोहभंगों के हिलोरों तक सीमित थी। तेलुगु कविता समाज

विकास, समाज निर्माण और समाज संगठन के व्यवहारों की गहराइयों में जाकर काव्य स्थितियों एवं समकालीन स्थितियों की आलोचना और उसमें विषय रूप तथा शिल्प सम्बन्धी वैचारिक भावनाओं में जाकर उनके मूल्य निर्धारण पद्धतियों का प्रतिपादन प्रस्तावित करती है। जीवन के संकट और काव्य के संकट तथा परिवर्तन के क्षणों में संघर्ष एवं विद्रोह की भावनाओं के विश्लेषण को समाज सम्बन्धी बनाकर काव्य और साहित्य प्रगति का मार्ग निर्दिष्ट किया है। कला की धारणा को देशव्यापी बनाने का समर्थन किया है जिससे कि समाज का संगठन काव्य का अनिवार्य लक्ष्य उद्घोषित हो। अतः तेलुगु और हिन्दी की स्वातंत्र्योत्तर कविता मार्क्सवादी लक्ष्य में वैचारिक विकास के लिए सामाजिक संगठन पर बल देती हैं। दोनों साहित्यों ने यह प्रस्तावित किया कि जन-संघर्ष को काव्य का विधान बनावें ताकि समाज का नव निर्माण हो सके।

4
स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी तेलुगु कविता और अस्तित्ववाद

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता : अस्तित्ववाद

भारत में अस्तित्ववाद का प्रवेश वास्तव में तब हुआ, जब वह पश्चिम में ह्रासोन्मुखी अवस्था में थी। यहाँ तक कि स्वयं सार्त्र उसे छोड़ने के पक्ष में थे।[1] क्या कारण हो सकता है कि अस्तित्ववाद जब पश्चिम में लुप्त हो रहा था तब उसी को भारतीय बुद्धिजीवियों ने अपनाना शुरू किया ? आजाद भारत में ऐसी कौन सी भयंकर परिस्थितियां थीं जिन्होंने आदमी को अकेलापन का गीत आलापने में विवश कर रही हैं ? क्या सचमुच सामाजिक असंगतियाँ इतनी विकृत थीं कि जिनसे विमुख होकर आदमी काल्पनिक जगत् में विहारने लगा ? वस्तु-स्थिति यह नहीं है। भारत अभी-अभी आजाद हुआ था। स्वस्थ समाज का निर्माण आवश्यक था। शोषित-पीड़ित जनता अब सोचने लगी थी कि उसकी सारी समस्याएँ हल हो जायेंगी। शोषण का अन्त होगा। आजाद भारत में कोई भेद-भाव न रहेगा। आर्थिक असमानताएँ दूर कर दी जायेंगी। सामाजिक विषमताएँ तथा धार्मिक अन्ध विश्वास समाप्त कर दिये जायेंगे। स्वस्थ मानवीय मूल्य स्थापित किये जायेंगे। यह एक ऐसा ही ऐतिहासिक समय था जिसमें नयी संवेदनाएँ तथा नयी आशाओं को अभिव्यक्त करने का पूरा अवसर था। केदारनाथ सिंह के शब्दों में–"यह एक नया उभरता हुआ भारत था, जिसमें उम्मीदें थीं। हताशा नहीं थी····· यह लग रहा था कि आजादी मिलने से कुछ महत्त्वपूर्ण घटा है। परिवर्तन से कुछ नया बनेगा। यह विश्वास रचना का बहुत बड़ा स्रोत था।"[2]

यह एक स्थापित सत्य है कि आजादी की प्राप्ति के तुरन्त बाद कांग्रेसी नेतृत्व ने पूँजीवादी मार्ग अपनाया। भारत में पूँजीवादी दर्शन को ऐसी स्थिति में अपनाया गया जब वह अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अत्यन्त कमजोर हुआ था। द्वितीय विश्व युद्ध में पूँजीवादी देशों को घोर पराजय का सामना करना पड़ा। विश्वयुद्ध

1. नयी कविता और अस्तित्ववाद–रामविलास शर्मा, पृ. 115
2. इन्द्रप्रस्थ भारती–अप्रैल-जून-1991, पृ. 284

में तहस-नहस साम्राज्यवाद के विकास होने में कोई गुंजाइश नहीं थी। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मार्क्सवाद का प्रचार-प्रसार और भी अधिक हो रहा था। मार्क्सवाद सर्वहारा वर्ग के सशक्त जीवन दर्शन के रूप में सभी उत्पीड़ित ताकतों को आकर्षित कर रहा था। लेकिन भारत का यह दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि हमारी सत्ता के कर्णधार एक ओर निष्ठापूर्वक समाजवाद के नारे लगा रहे थे और दूसरी ओर पूरा काम पूंजीपतियों-भूस्वामियों के पक्ष में ही कर रहे थे। कथनी-करनी में स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। धीरे-धीरे लोग मोह भंग के शिकार होने लगे। अब वह यह समझ रहे थे कि अंग्रेजों के विरुद्ध जो संघर्ष किया गया था वही संघर्ष अब कांग्रेस की जन विरोधी नीतियों के विरुद्ध करना है। वह जनता की आशाओं, आकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए व्यापक आन्दोलन छेड़ने का समय था। वह निराशा तथा निस्पृह का समय कतई नहीं था बल्कि नयी चेतना व उत्साह के साथ अपने अधिकारों के लिये जन आवाज बुलन्द करने का तथा नव उन्मेष फैलाने का समय था।

इसके विपरीत, भारत के मध्यवर्गीय बुद्धिजीवि एवं साहित्यकार अपने सारे सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्वों को तिलांजली देकर 'व्यक्ति स्वतन्त्रता' की खोज में लग गये और समाज में अपने को अकेले समझने लगे। इसका स्पष्ट प्रभाव स्वातन्त्र्योत्तर कविता में दृष्टिगोचर होता है। युगीन परिस्थितियों के विपरीत कुछ कवियों ने अस्तित्ववादी दर्शन को अपनाया है। यह सही है कि पश्चिम की धरती पर अस्तित्ववादियों की संशयवादिता संदर्भजन्य थी, कोरी अनुचितात्मक नहीं। द्वितीय युद्ध में दोनों शिविरों की बर्बरता और पाखंड देखकर लेखकों में 'संगठित शक्ति' से ही विश्वास उठने लगा था और वे व्यक्ति को वरण के पूर्व खूब सोच-समझ कर निर्णय लेने पर बल देने लगे थे। लेकिन हिन्दी में इस संदर्भ में ध्यान नहीं दिया गया। अनिश्चय, त्रास, शंका, अनास्था जैसे प्रत्ययों को ही मानव नियति के पर्याय के रूप में पेश किया गया गोया मानव नियति कोई स्थिर या पूर्व निश्चित सत्ता हो।"[1] समूह गत चेतना की जगह व्यक्ति चेतना ही प्रतिष्ठित की गयी है। व्यक्ति और व्यक्ति स्वतन्त्रता ने ही केन्द्र स्थान प्राप्त किया है। अतः स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में कवियों ने ऊब ऊबकाई, अकेलापन, बुरे-बुरे सपने, त्रास, आत्महत्या की चाह, संडांध का बोध भीड़ में अजनबीपन का अहसास आदि तथ्यों को अस्तित्ववादी दर्शन के प्रभाव से व्यक्त किया है। इन्हीं तथ्यों को निम्नलिखित शीर्षकों के माध्यम से लक्षित किया जा सकता है।

व्यक्तिवादिता

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में व्यक्तिवादिता को विशेष प्रश्रय मिला है।

1. समकालीन साहित्य और सिद्धान्त—डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, पृ. 103

अस्तित्ववादी के लिए व्यक्तिवादिता इसलिए आवश्यक है क्योंकि अपने को भीड़ अर्थात् समाज से अलग कराने के प्रयास में जो कुछ वह करता है उसमें उसका स्वत्व अधिक है। उनका मानना है कि सामाजिक मूल्य व्यक्ति के अधिकांश सर्जक और स्रोतों को कुंठित कर देते हैं। कुँवर नारायण कहते हैं– 'अपनी दुनिया से निकल कर जब हम बाहर की दुनिया में आते हैं तो हमारे व्यक्तित्व का एक सूक्ष्म विघटन होता है और हम अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर कुछ ऐसे नियंत्रणों को स्वीकार करते हैं कि हमारा अपना संसार दूसरे के संसारों से संघर्ष में न आए, मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिये कुछ सामाजिक नियमों को मानना अनिवार्य हो जाता है। लेकिन ये नियम, चाहे समाज के हों, चाहे राज्य के, इस सीमा तक मान्य नहीं हो सकते कि व्यक्ति की उचित स्वतन्त्रता में बाधक हो जायँ। वे सामाजिक मूल्य कोई माने नहीं रखते जो समाज के नाम पर व्यक्ति के अधिकांश सजर्क और सांस्कृतिक स्रोतों को कुंठित कर दें। ......कवि की वैयक्तिकता वह अनिवार्य माध्यम है जिसके द्वारा जीवन कला में परिणत होता है।"[1] अज्ञेय के शब्दों में –

> "अर्थ हमारा
> जितना है, सागर में नहीं
> हमारी मछली में है
> सभी दिशा में सागर जिसको घेर रहा है।"[2]

मछली अर्थात् अस्तित्व यानी जिजीविषा। स्वतन्त्र रूप से जीने की प्रबल इच्छा। किसी प्रकार के बन्धन या मान्यताओं से परे जीवन और मुक्ति। "यह मुक्ति और जीने की लालसा या कहें स्वातन्त्र्य की खोज ही अज्ञेय के काव्य की सही जमीन है।" एक एकान्त जीवन। न किसी के विरोध में न ही किसी प्रकार का कोई सामाजिक संघर्ष का आवाहन। अपने आप से तथा अपने आत्मगत सत्य से अपने आपको जोड़ने का प्रयास। यथा –

> "मैं भी एक प्रवाह हूँ
> लेकिन मेरा रहस्यवाद ईश्वर की ओर उन्मुख नहीं है।
> मैं उस असीम शक्ति से
> सम्बन्ध जोड़ना चाहता हूँ
> अभिभूत होना चाहता हूँ
> जो मेरे भीतर है।"[4]

1. परिवेश–हम-तुम (कुँवरनारायण) पाठकों से
2. अरी ओ करुणा प्रभामय–पृ. 168
3. समकालीन हिन्दी कविता–विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ. 9
4. हत्यलम्–अज्ञेय

यह पंक्तियाँ सीधा कीर्केगार्ड के विचारों से जुड़ती हैं। चूँकि कीर्केगार्ड ने कहा था – "हमें अपने अस्तित्व की यथार्थता का बोध अपने भीतर से होता है; सत्य हमेशा आत्मगत होता है, वस्तुगत नहीं।"[1]

एकाकीपन

अस्तित्ववादी विचारों से प्रभावित कवि मनुष्य को खंडित रूप में प्रस्तुत करते हैं। संसार में जो कुछ व्यर्थ है, फालतू है और अनावश्यक है। इतिहास इनके लिए 'अंधा' है, बहरा है, गूँगा है और लंगड़ा है तथा उसके प्रति कोई आस्था नहीं है। वास्तव में परम्परागत इतिहास से नाता तोड़ने का मतलब है मानवीय संदर्भ को अकारण सीमित और सँकरा करना है। वैसे तो "कला के क्षेत्र में विरासत के प्रति आदर का अर्थ है सच्चे मार्ग की खोज, उसके विकास की सही दिशाओं, उसकी सही धारा के सच्चे ऐतिहासिक मोड़ों और उनके नियमों का अन्वेषण, क्योंकि विकास सीधी रेखा या ज्यामिति के नियमों के अनुसार नहीं होता।"[2] पर अस्तित्ववादी कवि वर्तमान में जीते हुए अतीत एवं भविष्य के प्रति उदासीन दृष्टिकोण अपनाते हैं। इससे समाज में अपने को अकेला पाते हैं। जैसे –

"अस्वीकार करके भविष्य को
वीतराग होकर व्यतीत से
किसी केतु - सा
मैं भी तम की परतों में
कैद पड़ा हूँ।"[3]

यह एक प्रकार की विचित्र मानसिकता है। समाज में रहकर भी समाज से परे हैं। समाज में हो रहे विभिन्न आँदोलनों से इनका कोई मतलब नहीं है। न उसके प्रति कोई आस्था ही। उनकी दृष्टि में समाज बिल्कुल शून्य की छाया में है। इसलिये अस्तित्ववादी कवि अपने को अकेला तथा अजनबी वातावरण में पाते हैं। जबकि एकाकीपन का सन्दर्भ ही कुछ और है। जे. कृष्णमूर्ति के शब्दों में एकाकीपन "रिक्त होने का, पास में कुछ न होने का बोध है जिसमें असाधारण रूप से अनिश्चितता रहती है; जिसमें आश्रय कहीं नहीं रहता है।"[4] अकेलापन की अनुभूति अज्ञेय की कविता में भी लक्षित की जा सकती है –

1. नयी कविता और अस्तित्ववाद–पृ. 102–103 पर उद्धृत
2. कविता और मार्क्सवाद–जार्ज थामसन, पृ. 20
3. संक्रांत-कैलाश वाजपेयी, पृ. 26
4. मुक्ति अन्तिम मुक्ति–पृ. 146

"रात के घुप अँधेरे में जो एकाएक जागता है
और सागर की घुरघुराहट जैसी चुप
सुनता है
वह निपट अकेला होता है
अंधकार में जागने वाले सभी अकेले होते हैं।"[1]

अज्ञेय के इस अकेलेपन के प्रति इन्द्रनाथ मदान ने तीव्र असहमति व्यक्त करते हुए लिखा है – "उसका (कवि का) जीवन निचुड़ गया है; उसका अहं टूट गया है, उसे मृत्यु का बोध हो गया है .....। कवि को "हम नहीं रहेंगे ? का खेद है, अंधकार में जागने पर अकेला अनुभव करने का डर है.....अधिकांश रचनायें सृजन के स्तर पर न होकर उत्पादन के धरातल पर हैं।"[2]

ईश्वर में अनास्था

"जब विज्ञान ने खुदा को नैतिकता के आसन से हटा दिया तब अस्तित्ववादी के लिये बड़ी समस्या उठ खड़ी हुई। समाज में मूल्य की कोई कसौटी न रह गयी। पाप-पुण्य कुछ नहीं, मनुष्य को व्यक्तिगत रूप से निर्णय करना कि क्या मूल्यवान (पुण्य) है, क्या मूल्यवान (पाप) है। अँधेरे में बाप का हाथ छूट जाने पर जैसा छोटा बच्चा चीख उठता है, वही हालत खुदा को नकारने वाले अस्तित्ववादी की है। उसके त्रास का, अकेलेपन की अनुमति का, वेदना का यह मुख्य कारण है। पुराने धार्मिक विश्वासों के अनुसार ईसा-मसीह ने आत्म-बलिदान करके खुदा को मनाया और मनुष्य की मुक्ति का मार्ग खोला। जो अस्तित्ववादी खुदा को नहीं मानते खुदा के बेटे को भी नहीं मानते। इसलिये खुद ही खुदा के बेटे बन जाते हैं, खुद ही सलीब उठाने की दिमागी कसरत करते हैं, और यह सोचकर आत्म विभोर हो उठते हैं कि यह कार्य वे समस्त मानवता के हित में कर रहे हैं।"[3] दरअसल उनकी आस्था ईश्वर से अधिक अपने पर है। यथा–

"बार-बार अपने भीतर दोहराता हूँ
मैंने जो कुछ किया
ठीक किया,
मैं जो कुछ कर रहा हूँ
ठीक कर रहा हूँ
मैं जो कुछ करूँगा, ठीक करूँगा
अपने पर मेरी आस्था
इतनी छोटी नहीं

1. कितनी नावों में कितनी बार–पृ. 39
2. आलोचना और आलोचना–पृ. 94
3. नयी कविता और अस्तित्ववाद–पृ. 108-109

कि ईश्वर के कन्धों पर बैठ कर ही
इन पहाड़ियों के पार देख सकें।"[1]

स्पष्ट है कि ईश्वर की कल्पना और चिन्तन में बुद्धि उलझाना व्यर्थ समझता है। वह जीवन का ज्ञान उसे जीने से समझता है। क्योंकि विराट चेतना विषयक चिंतन इतना उलझता चला जाता है कि 'साधारण सा जीना भी नहीं जिया जाता।" अर्थात्–

"जीवन का ज्ञान है सिर्फ जीना मेरे लिये
इससे विराट चेतना की अनुभूति अकारथ है
हल होती हुई मुश्किलें
खामखा और उलझ जाती हैं
और यह साधारण-सा जीना भी नहीं जिया जाता।"[2]

लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि ईश्वरीय सत्ता को अस्वीकार करके वह और भी अकेला और कुंठित हो उठते हैं–

"मैं जो वर्तमान हूँ
भविष्य हीन अनवरत वर्तमान
अनिश्चय के बहरे क्षणों में
नींव भरकर न उठायी गयी
दीवार की तरह
ईश्वरहीन हो गया हूँ।"[3]

वास्तव में ईश्वरी सत्ता को अस्वीकार करने वाले व्यक्ति एक दृढ़ आत्म विश्वास के साथ आगे बढ़ता है। उनका यह आत्म विश्वास समाज में घटित होने वाले विभिन्न प्रकार के संघर्षों से निखर उठता है। वह हर किस्म की कठिनाई या संकट का सामना करने की क्षमता रखता है। परन्तु पश्चिम का व्यक्ति इस आस्था को खो जाता है। वह पूर्णतः अकेला हो जाता है।

निराशा एवं संत्रास

जब कवि अपने को अकेला पाता है तो निश्चय ही अमूर्त भविष्य की चिन्ता से उनके काव्य-पुरुष का कलेवर चिन्ता मग्न, मुख उदास, हृदय विषण्ण प्रतीत होता है। उनके लिए अस्तित्ववादी विचारधारा ही एक पूर्ण जीवन दर्शन बन जाता है। उसी में एक आदर्श है जिसके आवरण में आकर निराशापूर्ण मुद्रा को ही चरम-सत्य मान बैठता है। उदाहरण के लिये यह कविता देखिये–

1. एक सूनी नाव–सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, पृ. 29-30
2. संक्रांत–कैलाश वाजपेयी–पृ. 29
3. आवाजों के घेरे–दुष्यन्तकुमार, पृ. 26

"सभी अपने आप में पराये हैं
सभी दिग्भ्रमित हैं
त्रस्त, चोट खाये हैं
सभी अपनी रुख मुट्ठी में दबाये हैं
जब दुःख के अलावा और–
कोई लोक नहीं है।"[1]

यह ज्ञातव्य है कि पश्चिम में अस्तित्ववादी विचारधारा विस्तृत पैमाने पर युद्धोत्तर परिवर्तन के उपरान्त उभर कर आयी थी। पश्चिम के लिये युद्ध जितना निर्णायक था उतना ही भारत के लिये आजादी आंदोलन था। युद्ध की विभीषिका से पश्चिम का मनुष्य आतंकित और अंतर्मुखी हो गया था। भारत का मनुष्य तो अभी-अभी आँखें मल रहा था। स्पष्टता की ओर उन्मुख था। उनके विचार, आशाएँ एवं कल्पनाएँ सब कुछ स्वस्थ थीं। इसे न पहचानते हुए पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित स्वातंत्र्योत्तर कवि भीतर ही भीतर संत्रस्त हो जाते हैं। जैसे–

"मैं किसी भी सड़क पर
निकल जाता
और किसी भी
बस पर अहिस्ता
बैठ जाता
मेरा कोई नाम नहीं।"[2]

अस्तित्ववाद व्यक्ति को निराशा से उबारने के लिये किंचित भी व्याकुल नहीं है। उसकी दृष्टि में जीवन का लक्ष्य निराशा के दलदल में फँसे रहकर 'एकाकी' एवं 'अजनबी' होने की काल्पनिक यंत्रणा पर अरण्यरोदन करना ही परम तत्त्व है। मनुष्य इससे मुक्त होकर अपने अधिकारों तथा जीवन की वास्तविक समस्याओं को सुलझाने में किस प्रकार की प्रगतिशील भूमिका निभायेगा, इसका कोई समाधान अस्तित्ववाद के पास उपलब्ध नहीं है। "यह मूलतः दारुण निराशा का दर्शन है।"[3]

क्षण की महत्ता

अस्तित्ववादी प्रवृत्तियों के विवेचन के संदर्भ में 'क्षण' को नहीं भुलाया जा सकता है। अस्तित्ववाद वर्तमान के क्षण को अत्यन्त महत्त्व देता है। और

1. संक्रांत–कैलाश वाजपेयी, पृ. 16
2. मायादर्पण–श्रीकान्त वर्मा, पृ. 18
3. विचारधारा और साहित्य–अमृतराय, पृ. 25

वह यह मानकर चलता है कि प्राप्त क्षण ही सब कुछ है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कवि भी क्षण की अनुभूति पर बल इसलिए देते हैं कि वह अपने को समसामयिक जीवन के प्रति प्रतिक्षण उत्तरदायी समझता है। स्वातंत्र्योत्तर कविता में क्षण की चरम सत्ता वाली अनेक रचनाएँ प्रमाण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। अज्ञेय का क्षण को पकड़ने का आग्रह उनकी व्यक्तिवादी दृष्टि का तो प्रभाव है ही, अस्तित्ववाद का भी संस्पर्श लिये हुये है। उन्होंने क्षण के महत्त्वांकन को इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

"हमें किसी कल्पित अजरता का मोह नहीं।
आज के विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें, आत्मसात कर लें ··· ···
उसकी विविक्त अद्वितीयता
आप को, कमापी को, क ख ग को
अपनी-सी पहचानवा सकें ··· ···
शाश्वत हमारे लिए वहीं है।"[1]

और

'क्षण अमोघ है, इतना मैंने
पहले भी पहचाना है।"[2]

खगों से उड़ रहे जीवन-पलों की गहरी पहचान के पीछे भी अस्तित्ववादी तत्त्वों की तलाश कर सकते हैं। अज्ञेय की निम्नांकित कविता इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है –

"तुम सतत
चिरंतन छिने जाते हुए
क्षण का सुख हो ··· ···
इसी में उस सुख की अलौकिकता है।"[3]

"अस्तित्ववादी विचारधारा में क्षण का महत्त्व इसलिये है कि युद्ध जनित होने के कारण जीवन की अनिश्चितता भली-भाँति समझी जा सकती है, पर भारतीय साहित्य पर इस विचारधारा का प्रभाव, उसकी सारी मान्यताओं को ज्यों-का-त्यों आरोपित कर देने के प्रयास में दिखाई पड़ता है।"[4]

---

1. इन्द्रधनु रौंदे हुए थे–पृ. 44
2. कितनी नावों में कितनी बार–प्रातः संकल्प कविता
3. कितनी नावों में कितनी बार–पृ. 50
4. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी और गुजराती नयी कविता–डॉ. मंजु सिन्हा, पृ. 171

वेदना

अस्तित्ववादी विचारधारा में वेदना को विशेष महत्त्व प्राप्त है। अस्तित्ववाद के अनुसार वेदना की अनुभूति ही जीवन की अनुभूति को गहरी करती है। अज्ञेय जो स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में अस्तित्ववादी तत्वों को पुट देने वाले कवियों में शीर्षस्थ हैं, यह साफ मानते हैं कि "वेदना में बड़ी शक्ति निहित है। वह व्यक्ति के व्यक्तित्व को परिष्कारित और शक्ति सम्पन्न बनाती है।"[1] वेदना का अनुभव जो कि जीवन का अनुभव है, कवियों में इसके दंश का स्वरूप लक्षित किया जा सकता है –

'चेहरे थे असंख्य,
आँखें थीं,
दर्द सभी में था–
जीवन का दंश सभी ने जाना था।
पद दो
केवल दो
मेरे मन में कौंध गयी।"[2]

वेदना के सम्बन्ध में कवि की निश्चित धारणा अज्ञेय की अनेक कविताओं में लक्षित की जा सकती है। "हरिघास पर क्षण भर", "अरी ओ करुणा प्रभामय", "क्योंकि मैं उसे जानता हूँ", "आँगन के पार द्वार" जैसी कृतियों में दर्द या वेदना एक जीवन दर्शन बन कर आयी है। और यही वेदना परवर्ती रचनाओं में जीवन मूल्य बन जाती है। अज्ञेय अपने दर्द को समस्त मानव जाति में देखना चाहते हैं। और सारे परिवेश को दर्द के रूप में उसे व्यापक बनाते हैं। उन्होंने अपनी 'औपन्यासिक' कविता में प्रतिपादित किया है कि "शराब खाने की जरूरत नदी के किनारे के अभाव को व्यक्त करती है–दर्द की महत्ता व व्यापकता को रेखांकित करती है। आज मानव दर्द की शराब पी रहा है।

"कौन या कब अकेले बैठकर शराब पीता है ?
जो या जब अपने को अच्छा नहीं लगता
अपने को सहन नहीं हो सकता।"[3]

मृत्यु का एहसास

परम्परा तथा वर्तमान को समेट कर भविष्य की कल्पना करना जुझारू व्यक्ति के लिए शोभा देता है। अतीत के अनुभव को वर्तमान से तुलना करते हुए

1. नये प्रतिनिधि कवि–डॉ. हरिचरण शर्मा, पृ. 144
2. अरी ओ करुणा प्रभामय–पृ. 39
3. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ–पृ. 60

भविष्य के लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं। लेकिन परम्परा और भविष्य से कटा हुआ मनुष्य मानव इतिहास एवं सुखद भविष्य की आशा से कट जाता है तब उसे जीवन का कोई लक्ष्य दृष्टिगोचर नहीं होता। वह जन्म लेने, रोने एवं मर जाने की एकरसता से मुक्ति पाने हेतु जीवन की विनाश लीला हेतु तत्पर हो जाता है। यथा–

"आदमी जन्म ले, रोये और मर जाये
एक ही अनुभव को
बार-बार दुहराये, तब फिर मैं ही
अस्तित्त्वबद्ध होकर क्या पा लूँगा
अकेला हूँ–कभी जहर खा लूँगा।"[1]

दुख की इस अनुभूति में कवि अपने-आपको इतना गर्क कर देते हैं कि उनका सारा व्यक्तित्त्व उसमें विलीन हो जाता है। जीवन की अन्य अनुभूतियाँ उनके लेखे समाप्त हो जाती हैं। व्यक्तित्त्व संकुचित हो जाते हैं। भावनाएँ कुंठित हो जाती हैं। और विचार अस्पष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें यदि कोई राह दिखाई देती है तो वह मृत्यु की। क्योंकि "दुख सबको मांजता है"[2] तो मृत्यु पहचान कराती है। जीवन को छिछले बोध से हटाकर गहरे बोध से जोड़ती है। वह अस्तित्त्व की पहचान को भास्वर बनाती है अज्ञेय ने लिखा है–

"है राह !
कुहासे तक ही नहीं, पार देहरी के (है)
मैं हूँ तो वह भी है.
तीर्थाटन को निकला हूँ
कांधे-बांधे हूँ लकड़ियाँ चिता की,
गाता जाता हूँ,
है, पथ है :
वह जो रुक जाता है कूल-कूल पर बार-बार
यों नहीं कि वह चुक जाता है,
पर तीर्थ यही तो होते हैं–
अनजाने-यद्यपि वांछित-सम्पराय,
हम होते ही रहते हैं वहाँ पार।"[3]

यह अस्तित्त्ववाद की पराकाष्ठा है, जीवन सत्य से विमुख होने का परि-

1. संक्रांत–कैलाश वाजपेयी–पृ. 94
2. हरी घास पर क्षण भर–पृ. 55
3. कितनी नावों में कितनी बार–पृ. 92

णाम मात्र है। अस्तित्ववाद के लिए मृत्यु अन्तिम सत्य है। मृत्यु जीवन की यंत्रणाओं एवं यातनाओं से मुक्ति दिलाने वाली है। मृत्यु की गोद में कोई दुख-दर्द नहीं होता। मृत्यु को सहजता के साथ स्वीकार किया जाता है–

"मैं जानता हूँ
मौत सबको खा लेती है एक दिन
मैं उससे छीनता हूँ एक-एक मीठा क्षण
चूसता हूँ चिंविग गम
तुम मुझे दे सकते हो "।

एकाकी होने की प्रखर अनुभूति, निराशापूर्ण मुद्रा तथा कर्त्तव्यों से विमुखता आदि की अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली कुँवरनारायण की इस कविता की पंक्तियों में अस्त्त्ववाद की मूलभूत मान्यतायें प्रतिष्ठित होती हैं। यथा–

"किसी ओर, भाग जाने को जी चाहता है।
चाहे खाई हो, चाहे आग, चाहे जल–
क्योंकि उन सब से
कहीं अधिक भयानक है यह छल
जो न जीवन है न मृत्यु
केवल एक दुविधा है दोनों के सहारे।"[2]

इस संदर्भ में समकालीन कविता का मूल्यांकन प्रस्तुत करते हुए प्रसिद्ध कवि अशोक वाजपेयी ने कहा है–"समकालीन अधिकांश कविताएँ ध्यान से पढ़ी जायें तो लगेगा कि उनके लिखने वाले के मन में किसी तरह की महत्त्व चेतना नहीं, और यह भी उनके रचनाकार उनके लिखे जाने को अपने जीवन व्यापार में कोई विशेष महत्त्व नहीं देते। पीड़ा या मृत्यु जैसी गहरी चीजों पर कवियों ने ऐसा लिखा है कि सारी गरिमा भरी शब्दावली के बावजूद मानवीय पीड़ा, छोटी, भोंड़ी और अर्थहीन जान पड़ती है।"[3] रमेशचन्द्र झा जो अज्ञेय और कुँवरनारायण की कविता के प्रबल समर्थक तथा प्रशंसक हैं, जिनकी स्वीकारोक्ति इस संदर्भ में उल्लेखनीय है–"अज्ञेय और कुँवरनारायण के प्रारंभिक कृतित्व में व्यक्तित्व और अस्तित्त्व के संघर्ष की भारतीय संदर्भ में जो तगड़ी पहचान उभरी थी वह धीरे-धीरे धुँधली होती गयी। "आँगन के पार द्वार" और 'आत्मजयी' में ही जैसे इस संघर्ष का क्षेत्र संकुचित होते हुए हम देखते हैं और हमें संदेह होता

1. आत्मनिर्वासन–राजीव सक्सेना
2. आत्मजयी–माध्यम, सितम्बर-1965 से उद्धृत
3. ज्ञानोदय–"नयी कविता पर क्षण भर" लेखमाला के अन्तर्गत नामवर सिंह द्वारा उद्धृत की गयी पंक्तियाँ–अगस्त-1963, पृ 8

है कि ये कवि परम्परा और परिवेश की छानबीन से पूरी टकराहट की चुनौतियों से आंशिक पलायन करके व्यापक अस्तित्त्व के बजाय अपने व्यक्तित्त्व का 'मोक्ष' ढूँढ़ने लगे हैं। हमें लगा कि यह कुछ-कुछ उसी प्रकार की परिणति है जैसी की छायावादियों की थी। विद्रोह और समूची पीठिका की तलाश की प्रतिक्षाएँ शिथिल पड़ रही हैं और जिस परम्परा में खप जाने के विरुद्ध इनकी लड़ाई थी, ये अंततः उसी में आग्रह पूर्वक खपे जा रहे हैं।"[1] वास्तव में अस्तित्त्ववादी रचना संसार अनुभव की अद्वितीयता पर गलत अनुभव की काल्पनिक, जाल को प्रस्तुत कर रहा था। प्रारम्भ में, जिन्होंने 'साहस' और 'जोखिम' का नारा दिया था वही बाद में "नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ" का सम्पादन बन कर अपने-आपको गौरवान्वित महसूस कर रहे थे। अतः "अस्तित्त्ववादी कवि विद्रोही हैं–पूरे समाज से, नैतिक मूल्यों से, कविता से, अपने से। हिन्दी में अस्तित्त्ववाद एक अराजकतावादी धारा है। अराजकतावाद जनता की संगठनबद्ध, सामूहिक कार्यवाही का विरोध करता है।"[2]

सारांशतः अस्तित्त्ववादी कवि पूँजीवादी व्यवस्था को बिना किसी शंका से स्वीकार करते हैं। और प्रगतिशील चिन्तन का आग्रहपूर्वक विरोध करना तथा "अंतर्मुखी व्यक्तिवाद" में बँधा हुआ मध्यवर्गीय अनुभव संसार को महत्त्व देना अपना सर्वोत्तम कार्य मानते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु कविता : अस्तित्त्ववाद

उपर्युक्त हिन्दी कविता की भूमिका और हिन्दी कविता के विकास की भूमिका में अस्तित्त्व के गहरेपन का जीवन बोध सिद्धांततः तेलुगु साहित्य की अस्तित्त्ववादी कविता के भी आधार बिन्दु होते हैं। मार्क्सवाद के प्रभाव के उपरान्त चिन्तन क्रम में जो परिवर्तन आते रहे हैं उनका नियमों और बन्धनों से और अपने जिम्मेदारियों के उत्तरदायी व्यक्ति के स्वयं के होने के कारण तेलुगु कविता भी अस्तित्त्ववाद के प्रभाव में आ गयी है। जीवन का विश्लेषण और अस्तित्त्ववादी विचारधारा की प्रवृत्तियाँ अधिकाधिक हिन्दी कविता के निकट ही पड़ती हैं।

जीवन को सुखी एवं सुसम्पन्न बनाने के लिए शताब्दियों से मनुष्य अपने अस्तित्त्व का विभिन्न रूपों में विश्लेषण प्रस्तुत करते आ रहा है। दर्शन और साहित्य के मूल में मनुष्य का अस्तित्त्व ही निहित है। मार्क्सवाद के आविर्भाव से मनुष्य के चिन्तन में आमूल परिवर्तन आया है। और यह सामाजिक यथार्थ स्पष्ट हो गया कि उत्पादक साधन और प्रभुता स्थापित करने वालों के हाथों में ही अस्तित्त्व और स्वतन्त्रता केन्द्रित है।

1. आलोचना–अक्तूबर–दिसम्बर-1970, पृ. 30
2. नयी कविता और अस्तित्त्ववाद–रामविलास शर्मा, पृ. 130-1

व्यक्ति समष्टि कार्यों में हिस्सा लेने से पूर्व अनेक समस्याओं का सामना करता है। पूँजीवादी समाज में ये समस्यायें और भी अधिक हो जाती हैं। व्यक्ति जीवन अनेक नियमों एवं बन्धनों से ग्रसित हो जाता है। श्रम शक्ति में सही भूमिका निभाने का अवसर न मिलने पर और उत्पादित संपत्ति पर उचित अधिकार न रखने के कारण या तो मध्यवर्ग के लोगों में शामिल हो जाता है या पूँजीवाद की गिरफ्त में आकर भ्रमों से भरा हुआ जीवन बिताने लगता है अथवा सामाजिक एवं संघर्षकामी चेतना के अभाव में अपने आपको पराया, एकाकी तथा दिशाहीन अनुभव करने लगता है।

वर्ग विभक्त समाज में विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्ति और समाज के बीच उत्पन्न होने वाला संघर्ष व्यक्ति के अस्तित्व को संदिग्ध बनाता है। व्यक्ति अस्तित्व की इसी संदिग्धावस्था को रेखांकित करते हुए द्वितीय विश्व युद्ध कालीन परिस्थितियों के आलोक में, सार्त्र ने व्यक्तिवादी भावनाओं को प्रमुखता देकर अस्तित्ववादी विचारधारा प्रतिष्ठित की है। अस्तित्ववाद की दृष्टि में व्यक्ति एकाकी है। वह स्वयं पर आधारित है। अपरिमित कर्त्तव्यों के बीच पिसने वाला बेसहारा है। किसी दूसरे की सहायता ग्रहण न कर स्वयं द्वारा निर्मित एवं निर्देशित लक्ष्य की ओर उन्मुख है। अपनी जिम्मेदारियों का उत्तरदायी स्वयं होने के कारण उनके अस्तित्व का मूल अर्थ 'स्वतन्त्रता' है। इसी स्वतंत्रता का आग्रह करते हुए सार्त्र ने अनेक कहानियाँ, उपन्यास, नाटक तथा दर्शन ग्रन्थ सृजित किए हैं। अस्तित्ववाद की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं–

1. वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समर्थन
2. व्यक्ति के जीवन का प्रत्येक क्षण महत्त्वपूर्ण
3. मूल्यहीन बनते समाज में व्यक्ति के जीवन को एक मानवीय अर्थ एवं मूल्य देने का प्रयत्न करना।
4. सामाजिकता, यांत्रिकता, परम्परा का विरोध करना।
5. ईश्वर सम्बन्धी मान्यताओं का विरोध करना।
6. मानव को मानव के रूप में प्रतिष्ठित करना
7. तर्क के स्थान पर स्व-अनुभूति को महत्त्व प्रदान करना
8. व्यक्ति एवं समाज को उसके यथार्थ रूप में स्वीकार करना।[1]

उक्त विशेषताओं से स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति केन्द्रित एवं व्यक्ति स्वातन्त्र्य का उद्घोष ही अस्तित्ववाद का प्रधान लक्ष्य है। लेकिन बूर्जुआ

1. हिन्दी साहित्य में प्रतिबिम्बित चिन्तन प्रवाह–गोकाकार और कुलकर्णी, पृष्ठ 172

समाज में व्यक्ति स्वातंत्र्य केवल धन दौलत या भ्रष्टाचार पर ही आधारित है।[1]

सार्त्र की रचनाओं से तेलुगु के साहित्यकार प्रभावित हुये हैं। सन् 1950-75 के बीच अस्तित्ववादी विचारधारा से प्रभावित तेलुगु रचनाएँ मिलती हैं। लेकिन अस्तित्ववादी विचारधारा का प्रभाव कविता के क्षेत्र में कम और गद्य साहित्य-कहानी उपन्यास आदि में अधिक है। विकसित औद्योगिकीकरण तथा नगर जीवन की विभीषिकाओं से आक्रांत एवं आतंकित कुछ मध्यवर्गीय अंतर्मुखी कवियों ने अस्तित्ववादी दर्शन को अपनाया है।

अस्तित्ववादी विचारधारा का विस्तृत परिचय देने वाले तेलुगु ने सुप्रसिद्ध आलोचक श्री आर. एस सुदर्शनम हैं जिन्होंने सन् 1964 में भारति पत्रिका में 'अस्तित्ववाद' शीर्षक से लेख लिखा है। सन् 1969 में 'सृजना' में सार्त्र की भेंटवार्ता प्रकाशित हुई है। 'पिलुपु', 'आन्ध्र प्रभा', 'आन्ध्र ज्योति' इत्यादि पत्रिकाओं में सार्त्र के विचारों पर आलोचनात्मक लेख प्रकाशित हुये हैं।[2] अतः स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु कविता के अंतर्गत अस्तित्ववादी विचारधारा की प्रवृत्तियाँ लक्षित की जा सकती हैं–

व्यक्तिवादिता

अस्तित्ववाद व्यक्ति स्वतन्त्रता को महत्त्व देता है। व्यक्ति मूलतः स्वतंत्रता का वरण करके ही अपना अस्तित्त्व प्रमाणित करता है। वह समाज के द्वारा प्रशस्त मार्ग न अपनाकर अपनी इच्छा के अनुसार गतिमान होता है। अस्तित्ववादी की दृष्टि में स्वेच्छा से भोगा हुआ क्षण ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सार्थक है। साहित्य में भी व्यक्ति की स्थापना को ही अस्तित्ववाद महत्त्व देता है। व्यक्ति अपने भोगे हुये क्षणों का, अनुभूतियों का चित्र प्रस्तुत करता है और अपनी घुटन का स्वरूप व्यक्त कर वैयक्तिता की स्थापना करता है। अस्तित्ववादी विचारधारा से प्रभावित कवि पहले समाज से अलग होता है। बाद में कुछ मूल्य, कुछ अनुभूतियाँ प्रतिष्ठित करता है। लौकिक जगत से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। उनके द्वारा प्रतिपादित मूल्य और अनुभूतियाँ ही शाश्वत और अनश्वर हैं। तेलुगु के प्रमुख कवि बाल गंगाधर तिलक के ही शब्दों में–"उसके (कवि) मूल्य ही

1. The Freedom of the bourgeois writter, or artist or actress is simply masked (or hypocritically masked) dependence on the bag, or carruption or prostitution
("Party organisation and party liturature" Lenin–on Literature and Art).
2. आधुनिक तेलुगु साहित्यमलो विभिन्न धोरणुलु
सं. के. के. रंगनाथाचार्युलु, पृ. 133

अलग हैं। उसकी नजर ऊँचे आकाश से तारामण्डल में प्रवेश करती है । वह मनुष्य के भीतर मनुष्य को देखता है। जहाँ सुन्दरता होगी, वास्तविकता होगी वहाँ उसकी अंत:दृष्टि उतरेगी। किसी अगोचर के लिए तड़पता है और निरंतर खोज करता है। उसकी इस यात्रा में लौकिक जगत् की परवाह नहीं करता है। इसलिए उसकी कल्पना शाश्वत है। उसकी नीति अपेक्षाकृत अधिक है। उसकी रचना अक्षरयुक्त है। (अनश्वर है)"[1] इसलिए आकाश-सा एकांत चाहता है। अत: अस्तित्ववादी कवि के लिए मनुष्य की दैनिक समस्याएँ कोई महत्त्व नहीं रखती हैं। सामाजिक सघर्ष तथा जनता की विवशताएँ उसके लिए निरर्थक हैं। सामाजिक संघर्ष के ताप से बचने के लिये पूरा प्रयास करता है और कहता है–

"आनंद-शीतल चश्मों से
सब कुछ सुन्दर ही दिखाई देता है।"[2]

आनन्दमय और सुखमय जीवन बिताने के लिए असत्य का निस्संकोच स्वागत करता है जैसे–

"झूठ पर आश्रित सुख
सच प्रमाणित करने वाले नरक
से हजारों गुणा बेहत्तर है।"[3]

यही किसी प्रकार के सिद्धान्तों से आबद्ध अर्थात् सम्बद्ध जन ही होना चाहता है। सिद्धान्त के आवरण में शिष्टता नष्ट होती है। वास्तव में अस्तित्ववादी कवि की दृष्टि में सिद्धान्त एक बन्दी गृह है। यथा–

"इजम में इंप्रिजन बने
तो शिष्टता नष्ट होगी।"[4]

अस्तित्ववादी कवि अपनी वैयक्ति महत्ता और सार्थकता को इस प्रकार प्रतिष्ठित करता है–

1. तिलक लेखलु–61
2. आनंदपु चलुव जोल्ललोंचि
   अंता अंदंगा कनिपिस्तुंदि–
   अमृतम कुरिसिन रात्रि–बालगंगाधर तिलक–पृ. 54
3. अबद्दान्नि अश्रयिंचिन सुखम
   निजान्नि निरूपिंचे नरकम
   कन्न वेच्चिरेदलु नयम–अमृतम कुरिसिन रात्रि–बालगंगाधर तिलक–पृ. 83
4. इजमलो थिप्रिजन अभिते इंगित ज्ञानम नशिस्तुंदि
   अमृतम कुरिसिन रात्रि–बालगंगाधर तिलक–पृ. 92

'हमारे निषाद-छन्द में से
वेदना वाल्मीकी में से
मैं दिगम्बर कवि आ रहा हूँ ।"[1]

अड़ोस-पड़ोस के प्रभाव में न आकर स्वतन्त्र जीवन बिताने में ही अस्तित्व-वादी अपना सार्थक समझता है। वह यह अनुभव करता है कि वर्तमान सामाजिक अवस्था में मनुष्य पराधीन है। दूसरों के प्रभाव में है। गुलाम है। निस्सार जीवन बिता रहा है। सामाजिक नियमों एवं संगठनों से मुक्त होने का उपक्रम करता है। ये सब उन्हें अवगुंठन की भाँति लगता है। इसलिए कहता है कि मन पर ढके हुए अवगुंठन हठाओ ताकि किसी प्रकार के सामाजिक दायित्वों के आवरण में न आकर स्वतन्त्रता पूर्ण जीवन बिता सके। यथा–

"तेरे मन पर ढका हुआ कृत्रिम अवगुंठन
पहना हुआ तेरा लाल कुर्ता
काट लो।"[2]

और स्वेच्छा से भोगा हुआ क्षण ही अस्तित्ववादी कवि के लिए सर्वोपरि महत्त्व रखता है। उन्हीं के शब्दों में–

"सूरज मुखी-सा
दुनिया के पीछे चक्कर मत काटो
मनीषी
न भी हो तो
कम से कम मनुष्य हो
आधा क्षण जियो।"[3]

---

1. मा निषाद श्लोकम लोंचि,
वेदना वाल्मीकम लोंचि
नेनु वस्तुन्नानु दिगम्बर कविनि–दिगम्बर कवुलु–पृ. 21
2. नोमनसुनि कप्पेसिन कृत्रिमत्वपु मुसुमगुल्नि
नीवु तोडुक्कुन्न ऐरुपु चांक्कान्नि
छेदिंचु को
–दिगम्बर कवुलु–पृ. 53
3. पोददु तिरुगुड पुव्वुला
लोकम चुट्टु परुगेत्तकु
मनीषि वै
काकुंटे कनीसम मनिषिवै
अरक्षणम ब्रतुकु। –दिगम्बर कवुलु–पृ. 55

वस्तुतः अस्तित्ववादियों के लिए स्वतंत्रता का अर्थ बिल्कुल निजी वैयक्तिक निरंकुशता से है। यद्यपि सार्त्र कहते हैं कि 'मैं अपनी स्वतंत्रता की कामना करने के साथ-साथ दूसरों की स्वतंत्रता का समर्थन करने के लिए प्रतिश्रुत हूँ।"[1] तथापि प्रकटतः ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि अस्तित्ववादी निजत्व से परे सामाजिक जीवन अपनाता है। यह केवल शब्दावली तक ही सीमित है। वास्तव में अस्तित्ववादियों के लिए स्वतंत्रता सामाजिक मर्यादाएँ, सामाजिक संस्थाएँ और संगठन वैयक्तिक स्वतंत्रता में बाधक और पराधीनता के स्वरूप हैं। परन्तु वास्तव में "एक सभ्य समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपने आप का एक उद्देश्य होता है और अन्य उसके लिए कुछ भी नहीं होते। किन्तु वह अन्य से अपने सम्बन्धों के अभाव में कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिए अन्य उसके विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति का माध्यम होते हैं।"[2]

ईश्वर में अनास्था

ईश्वरीय सत्ता को अस्तित्ववाद अस्वीकार करता है। यह तो व्यक्ति की महत्ता की स्वीकृति का परिणाम ही है। जब समाज में व्यक्ति की महत्ता बढ़ती है तो शनैः शनैः व्यक्ति के मन में परम्परानुमोदित मूल्यों के प्रति अविश्वास भी बढ़ता है। अस्तित्ववादी कवि ईश्वर, धर्म, नैतिकता और सामाजिक मूल्यों को स्वीकार नहीं करता है। हालांकि यह बात सही है कि भारतीय जन मानस पर ईश्वर, धर्म, परम्परा और नैतिकता का गहरा प्रभाव है। आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण हमारी अन्ध श्रद्धाओं एवं परम्पराओं के खोखले स्वरूप का पर्दा खुल गया। ईश्वर, धर्म आदि के नाम पर जनता को मूर्ख बना रहे हैं। धार्मिक कल्पनाओं को झूठा साबित किया जा रहा है। अस्तित्ववादी विचारधारा से प्रभावित कवि ईश्वर और परम्परा के विरुद्ध अपनी अनास्था व्यक्त करता है। ईश्वर और धर्म के नाम पर अंधविश्वास फैलाने वालों की खबर लेता है। उदाहरणार्थ-

'भगवान-भगवान कहकर
गर्व करने वाले
घुमक्कड़ तत्त्व ज्ञानियों को

1. Freedom as the definition man does not depend on others, but as soon as there is involvement, I am obliged to want others to have freedom at the same time that I want my own freedom.
   – Existentialism : J. P. Sartre – P. 54
2. विस्तार के लिए–"होली मैक्स" शीर्षक अध्ययन – "दि जर्मन आइडोलॉजी"
   – मार्क्स और एंगेल्स

आलसी आध्यात्मियों को
आँखें फोड़कर दिखाना है ।"[1]

तथा

"लिंग भेद वाद विवाद छोड़कर
मन्दिर मस्जिद चर्च
धार्मिक नेता-धर्म क्यों ।"[2]

और घोषित करता है कि भगवान नहीं है, बहुत पहले ही मर चुका है। जैसे–

"जगत् ये छोड़कर
भगवान मर गया है ।"[3]

एकाकीपन

अस्तित्त्ववाद की प्रमुख प्रवृत्ति एकाकीपन है। समाज में रहकर भी अपने आप को एकाकी अजनबीपन, पराया अनुभव करता है। यह तब अधिक हो जाता है जब वह ईश्वरीय सत्ता से, इतिहास से, परम्परा से तथा समाज से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर लेता है। वास्तव में जब कोई ईश्वरीय सत्ता के प्रति अनास्था प्रकट करता है तो एक दृढ़ आत्म विश्वास के साथ एक महान संकल्प लेकर अग्रसर होता है। विश्व के प्रति, समाज के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाता है। लेकिन अस्तित्त्ववादी विचारधारा से प्रभावित कवि में उसका लोप है। अस्तित्त्ववादी कवि घोषित करता है कि 'विश्व के कार्यकलापों में मनुष्य सदा एकाकी है।"[4] इस विशाल जगत में मनुष्य एकाकी है। बेसहारा है। अतः अस्तित्त्ववादी कवि अपने को एकाकी पाता है। जैसे–

1. देवुडु देवुडटू
   नेल विडिचि सामुचेयु
   तत्त्व दिम्मरुलकु
   आध्यात्मिक सोमरुलकु
   कल्लुपोकि चुपालनुंदि । – दिगम्बर कवुलु–पृ. 10
2. लिंगभेदालु वादालु तप्पिते
   मन्दिर मस्जिद चर्चि
   मताधिकारुलु मतालु ऐंदुकु – वही – पृ. 18
3. ई लोकान्नि वदिलि
   आ देवुडुगाडु चच्चाडु – दिगम्बर – पृ. 86
4. दिगम्बर कवुलु–पृ. 4

'मेरे देश में मैं एकाकी हूँ।"[1]

अन्यत्र उन्होंने लिखा है–

"मार्गहीन-लक्ष्यहीन होकर
छटपटा रहे तू और मैं
इस देश के कैलेंडर्स की तारीखें हैं
खड़े हुए एकाकी हैं।"[2]

तिलक की कविता मानवतावाद से पूर्ण होने के बावजूद भी अस्तित्ववाद एक अंतः सूत्र की भाँति विद्यमान है–

"तो मैं .... इस समाज में
स्थूल आकृति हूँ
अस्तित्वहीन काल्पनिक पवन हूँ
एकाकी हूँ।"[3]

मनुष्य के अस्त-व्यस्त जीवन को चित्रित करते हुए कवि बैरागी मनुष्य को समाज में अकेला घोषित करता है। यथा–

"शाम नहीं होगी, नहीं बैठने का अवसर
अकेला ही अकेला अंगारों पर
यात्रा कर रहा है नर
अबोध दिशा की ओर।"[4]

निराशा और वेदना

अस्तित्ववादी दर्शन के अनुसार मनुष्य एक स्वेच्छा जीवी है। स्वतन्त्र

---

1. ना देशम लो नेनु एकाकिनि – दिगम्बर कवुलु, पृ. 72
2. दारिलेक गम्यम लेक
   कोट्टु मिट्टाडुतुन्न नीवु नेनू
   ई देशम कैलंडर्लं पै तारीखुलम
   निराधारंगा........
   निलुचुन्न एकाकुलम – दिगम्बर कवुलु – पृ. 97
3. नेनो मरि .... इंका समाजम लो
   स्थूल मैन आकृतिनि अस्तित्वान्नि पोंदनि–
   ऊहा मरुत्तुनि एकाकिनि – अमृतम कुरिसिन रात्रि–तिलक, पृ. 125
4. प्रोद्दु पोडवदु, कूचुनेंदुकु वीलुलेदु
   ओंटरिग-ओंटरिग मंटल्लो-मंटल्लो
   पयनिस्तुन्नाडु मानवुडु
   तानेरुगनि दिक्कुकेसि। –नूतिलो गोंतुकलु – बैरागी, पृ. 17

रूप से जीने के लिए अभिशप्त है। इतिहास और परम्परा एक ढकोसला है। विश्व में सहानुभूति जताने वाला कोई नहीं है। अकेला ही परिस्थितियों का सामना करता है। अपने भविष्य का, लक्ष्य का निर्णय करने का अधिकार रखता है। वह चिंतनशील है। वह यह भी जानता है कि उसके कार्यों से दूसरे प्रभावित भी होते हैं। यही विचार उन्हें सामाजिक सम्बन्धों से जोड़ता है। लेकिन यही सम्बन्ध व्यक्ति और समाज के बीच द्वंद्व के कारण भी बनते हैं। अस्तित्ववाद की दृष्टि में व्यक्ति और समाज का समन्वय असम्भव हो जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति-हृदय में उत्पन्न अनुभूति ही वेदना व दुख है। इसी वेदना को अस्तित्व-वादी कवि इस प्रकार प्रतिष्ठित करता है–

"झूठ है वेदना यह मेरी ?"[1]

तेलुगु कविता के अंतर्गत बैरागी की कविता में सबसे अधिक निराशा को प्रश्रय मिला है। उनका "अंध-कूप की आवाजें (नूतिलो गोंतुकलु) शीर्षक काव्य संग्रह निराशा से आवृत्त एक संशयात्मक काव्य है। काव्य का आरम्भ ही अँधेरा से हुआ है–

"रात प्रलय की रात······
आदिम तम से आकाश आवृत है।"[2]

तथा

"मरघट में पौधे पुष्पित नहीं होंगे
अन्त में अँधेरा ही है चेतना/शून्य अँधेरा।"[3]

अस्तित्ववादी विचारधारा से प्रभावित कवि वस्तु जगत् से मुँह फेर लेता है। प्रतिकूल वातावरण में जीवन के यथार्थों से साक्षात्कार न कर घोर निराशा-वादी बन जाता है। निम्न कविता में निराशावाद पूर्ण मुखरित हुआ है–

"क्यों कि हम कभी विद्रोह नहीं करेंगे
क्योंकि विद्रोह करना हमारा धर्म नहीं है
क्योंकि हमारे खून में जाति-धर्म का पिशाब बह रहा है।
क्योंकि हम डरपोक कुत्ते-सुअर हैं
सदा के लिये हमारे जीवन खरीदकर राज करने वाले

---

1. अबद्दमा ई वेदना–दिगम्बर कवुलु, पृ. 20
2. रात्रि कालरात्रि .....
   आदिम तमस्सुलु आवरिंचाई – आकाशन्नि – नूतिलो गोंतुकलु-भैरागी पृ. 1
3. वल्लकाटि मुनिवाकिट नाटिन मोक्कलु पंडवु
   चिवरकु चीकटोकटे, चलनम् लेदु सीकटिकि।
   – नूतिलो गोंतुकलु – भैरागी – पृ. 3

विभिन्न प्रकार के कोढ़ ग्रस्त देवताओं की पूजा
के लिये समर्पित होंगे ।"[1]

जीवन की असफलताओं की स्मृति से कंपित हो जाता है–

"एक भयंकर सृष्टि क्रम
मानव प्रयत्न की असफलता की
स्मृति कर कंपित हो जाता हूँ ।"[2]

फलतः संत्रस्त हो जाता है–

"एक विरसता ने मुझे घेर लिया है
समय अंध कूप-सा प्रतीत हुआ है ।"[3]

कहा तो यह जाता है कि अस्तित्ववादियों के संशय, अनिश्चय, अवसाद, आत्मग्लानि, व्यथा और भय आदि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिवेश की विकृतियों के स्वरूप ही हैं। स्वतन्त्रता के बाद भारतीय जन मानस के स्वप्नों की टूटन, भ्रष्ट राजनीति, महानगरों की विभीषिकाएँ, विज्ञान के साथ-साथ विनाशकारी अस्त्रों के निर्माण से मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी कुंठित एवं संत्रस्त हो गया है। यह सही होने पर भी समाज के हित में नहीं है। समाज के हितैषी अवसाद का अनुभव न कर उस अमानुषता और अनियमितताओं के अत के लिए संघर्षरत होता है। अस्तित्ववादी दर्शन वास्तव में एक निराशावादी दर्शन है। 'संघर्ष' नामक शब्द ही उसमें सम्मिलित नहीं होता है।

वस्तुतः निराशा से आप्लावित अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभावित कवि

1. एप्पटिकि मनम तिरगबडलेगे काबट्टि,
एप्पटिकि मनकि तिरबडडम चातकादु काबट्टि
मन खतम निंडा कुलाल मताल मूत्रम प्रवहिस्तुंदि काबट्टि
मनम पिरिकि कुकलम पंदुलम काबट्टि
मन जीवितान्नि शाश्वतंगा कोनिसि परिपालिस्तुन्न
रक रकाल कुष्ठु देवुल्लनि कोलवडानिके अंकित मवुदाम
– दिगम्बर कवुलु – पृ. 254

2. ओक भयंकर सृष्टिक्रमानि-
मानव यत्न वैफल्यान्नि
ऊहिंचुकुनि ओणिकि पोये वान्नि
– अमृतम कुरिसिन रात्रि – तिलक – पृ. 126

3. ओक वेगुटु ऐदो नन्नू आवरिंचुकोंदि
कालम पाडुबूरिचला ना कल्लकु कनबडिंदि
– अमृतम कुरिसिन रात्रि – तिलक – पृ. 12

सामाजिक समस्याओं के समाधान ढूँढ़ने में अक्षम रहता है। उनके लिए वैयक्तिक अनुभूतियाँ ही प्रमुख बनती हैं। फलतः सामाजिक चेतना संकीर्ण और संत्रस्त हो जाती है।

मृत्यु का एहसास

अस्तित्ववादियों के लिए मृत्यु एक पवित्र संदर्भ है। मृत्यु की अपरिहार्यता मानवीय अस्तित्त्व को क्षोभ देती है। अपनी मृत्यु कामना करते हुए मनुष्य परम अनस्तित्त्व का साक्षात् करता है। अंतर्मुखी होने के कारण बार-बार मृत्यु का स्मरण आता है। सारी कल्पनाएँ मृत्यु को लेकर ही बनती हैं—

"फाँसी के फंदे मेरी कल्पनाएँ हैं
शब्द मेरे हथकड़ियाँ हैं।
मुझ पर फेंके पत्थर मेरे अक्षर हैं।
जग मेरा नहीं है।"[1]

और अपने ही शव को लाखों बार देखता है।

"वहाँ तक क्यों सड़क पर अपने ही शवों को
लाखों बार मैंने ही देखा है।"[2]

अस्तित्ववादी कवि के लिये मोड़-मोड़ पर मृत्यु का मुख ही दिखाई देता है—

"कदम-कदम पर युद्ध भय
मोड़-मोड़ पर मृत्युमुख।"[3]

इसलिए आत्महत्या का उपक्रम करता है—

"आत्महत्या के लिये सोच ही रहा था
पत्नी की आवाज सुनकर, बास का बुलावा पाकर
भय से थरथराहट कर।"[4]

1. उरित्राल्लु ना ऊहलु
   संकेल्लु ना माटलु
   ना पैरुव्विन राल्लु ना अक्षराल्लु
   नाकु लोकम लेदु —कल्पना (काव्य संकलन)-अजंता पृ. 177
2. अंतदाक एंदुकु रोड्डुमोद ना मृत कलेबराल्नि
   नेने लक्ष सारलु चूशानु – वही – पृ. 180
3. अडुगड्गुन युद्धभयम
   मलुपु मलुपुन मृत्युमुखम – अमृतम कुरिसिन रात्रि – पृ. 82
4. आत्महत्या चेसुकुंदामनि अनुकुंटुंटे
   पेल्लाम माट विनबडि, बास केकविनबडि
   भयम तो गजगज वणुकुतू – वही – पृ. 59

अंततः अस्तित्त्ववादी विचारधारा से आवृत्त कवि अपना प्रगति विरोधी दृष्टिकोण इस प्रकार प्रस्तुत करता है–

"इसलिये हम कभी
प्रगति नहीं करेंगे।"[1]

यह अस्तित्त्ववाद की पराकाष्ठा है। यह सही है कि आजादी के बीस साल बाद भी व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन सम्भव नहीं हुआ है। समाज के हर क्षेत्र में अनियमितता, भ्रष्टाचार, भाई भतीजावाद विकृत नर्तन कर रहे थे। इसके विरोध में एक संघर्ष की, व्यापक जन आन्दोलन निर्मित करने की आवश्यकता थी। कुंठित और संशस्त होने का समय कतई नहीं था। वैसे भारत के इतिहास में तेलुगु क्षेत्र का अपना ही महत्त्व है। जन-संघर्ष के लिए प्रसिद्ध है। भारत के प्रगतिशील आन्दोलन के दिशा निर्देशन में तेलुगु क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। भाषा के आधार पर पृथक राज्यों का निर्माण तेलुगु की जनता के अप्रतिम संघर्ष से ही सम्भव हुआ है। लेकिन अस्तित्त्ववादी विचारधारा से प्रभावित कवि जीवन की कटुता से आतंकित हो जाता है और अंतर्मुखी बनता जाता है। विडम्बना यह है कि तेलुगु साहित्य में अस्तित्त्ववादी दर्शन ऐसी परिस्थिति में अपनाया गया है जब स्वयं सार्त्र उसे छोड़ने के पक्ष में थे। स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु कविता के अंतर्गत दिगम्बर कवियों की रचनाओं में (प्रथम दो संकलन) अस्तित्त्वादी प्रवृत्तियाँ पूर्ण वर्तमान हैं।

दिगम्बर कवियों की अस्तित्त्ववादी चेतना के संदर्भ में यह कहा जाता है कि "दिगम्बर कवियों ने मार्क्सवाद और अस्तित्त्ववाद के बीच सामंजस्य स्थापित करने का आग्रह किया है।"[2] इस कथन की पुष्टि के लिए दिगम्बर कवियों का यह मंतव्य उल्लेखनीय है–"मनुष्य की भौतिक कामना एक सत्य है। इस कामना के साथ सुषुप्त रही तीसरी दुनिया भी सत्य है। मानसिक एकाकीपन भी वास्तव है। लेकिन यह एकाकीपन ही अस्तित्त्व नहीं है। अड़ोस-पड़ोस और मानवीय सम्बन्ध भूलकर पल-पल भारमय जीवन बिताने में अस्तित्त्व नहीं है। आत्मतृप्ति के साथ चेतना युक्त जीवन बिताने में ही सही अस्तित्त्व है।"[3] मार्क्सवाद के प्रति विश्वास एव आदर व्यक्त करते हुए भी वे किसी प्रकार के नियम एवं सिद्धान्तों से प्रतिबद्ध नहीं होना चाहते हैं। समय समय पर दिये गये उनके वक्तव्य और रचनाओं से यह सिद्ध होता है कि संगठनात्मक तथा सैद्धां-

1. अंदुके मन मेनाटिकि
   अभ्युदानि कि योजालम — दिगम्बर कवुलु–पृ. 30
2. आधुनिक तेलुगु साहित्यम लो विभिन्न धोरणुलु–पृ. 44
3. दिगम्बर कवुलु – पृ. 70

तिक प्रतिबद्धता में उनका कोई विश्वास नहीं है । यह मध्यवर्गीय अंतर्मुखी व्यक्तित्ववादी चेतना का ही परिचय है । यह समाज के हित में न होकर पूरी तरह वैयक्तिक है । यह पूँजीवादी संस्कृति का ही प्रतिनिधित्व है । अतः समाज और सामाजिक संघर्षों के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण न अपना कर वैयक्तिक भावनाओं को पुट देने वाले अस्तित्ववादी दर्शन का आश्रय लेकर सामाजिक संघर्षों की गति में रुकावट पैदा की गयी है। अस्तित्ववादी दर्शन व्यक्ति और समाज के बीच के सम्बन्धों को समझने में असफल ही नहीं बल्कि व्यक्ति को भ्रमित कर देता है।

तुलनात्मक निष्कर्ष

हिन्दी और तेलुगु की अस्तित्ववादी कविता के विचार भारतीय कविता के विचार के भीतर क्रियाहीन मानसिकता के समर्थन के लिए खड़े होते हैं ।

पश्चिमी अस्तित्ववाद के अनुभव और भारतीय अस्तित्ववाद के अनुभव स्रोत अलग जुदे हैं । आजादी के बाद के मानव मूल्य की स्थापना के विश्वास, अन्धविश्वास समाप्त करने की आशा पूँजीपतियों और भूस्वामियों के समर्थन में सरकार की पक्षधरता, जनविरोधी नीतियों में जनता की आवाज को बुलन्द करने की चेतना या नव उत्साह तथा मोहभंग के क्षणों में मध्यवर्गीय जीवी को समाज में अपने को अकेले समझने का अनुभव अथवा आशा जनित मानव का दिशाभ्रम और समाजवाद की कल्पना में संघर्षहीन मार्ग की ओर की जाने वाली यात्रा का अनुभव तद्युगीन मानव को व्यवहारिक प्रश्नों से मुक्त कराकर स्रोतों की तरफ ध्यान दिलवाते हैं। सांस्कृतिक स्रोतों के कुंठित होने का अनुभव और परम्परा को खोज पाने के विरुद्ध की जाने वाली लड़ाई से शिथिल पड़ी हुई विद्रोह की तलाश की प्रतीक्षाएँ और व्यक्ति मोक्ष ढूँढ़ने वाली पलायन परक प्रवृत्तियों की टकराहट भारतीयता की पहचान के संदर्भ हैं । जो अस्तित्व पर मानव की मुद्रा स्पष्ट दिखाई देती है ।

हिन्दी में मानव की नियति वाले प्रत्यय को निष्क्रियात्मक या क्रियाहीन मानसिकता से जोड़कर अस्तित्व का संदर्भ या विमर्श कर लेते हैं । जबकि पश्चिम के संदर्भ में द्वितीय महासंग्राम मानव की नियति का यथार्थ था । ऐसे संदर्भ से कटे हुए और पश्चिम के संदर्भ जन्य प्रतीति से जोड़ने का प्रयत्न हिन्दी में हुआ था । यहाँ का यथार्थ मध्यवर्गीय जीवी का समाज में अपने को अकेले समझने का अनुभव उसकी क्रियाहीन होने वाली मानसिकता का यथार्थ था। दायित्व और नैतिकता के पद से विलग होने वाली मध्यवर्ग के दिमागी कसरत को संवेदना के धरातल से जोड़ा जा सकता है । जो मात्र परिस्थिति जन्य है और उसको अनुचिन्तन जन्य कहना उचित नहीं माना जाता । वह वैचारिक मोहभंग का परिणाम है ।

तेलुगु की अस्तित्ववादी कविता ने वस्तुजगत से मुँह मोड़ लेने वाली जीवन यथार्थों से साक्षात्कार की विफलता और उसके परिणाम से उत्पन्न अवसाद और अनियमितताओं के अन्त न करने वाली विकृतियों के स्वरूप को, सामाजिक चेतना को संत्रस्त बनाने वाले रूप में पहचान लिया है। वास्तविकता से उत्पन्न यह अंतर्दृष्टि जनता के सुखमय जीवन की कल्पना का स्वागत नहीं कर सकती थी। संगठनों के उपक्रमों से जीवन उभार का कोई विश्वास नहीं होता था। अंध विश्वासों की खबर लेना चाहते हुए भी व्यक्ति और समाज के समन्वय की संभावना नजर नहीं आती थी न ऐसा विश्वास सम्भव था। 'फाँसी के फंदे', 'फेंके पत्थर' और शब्दों का बवंडर आखिर व्यक्ति को अंतर्मुखी होने को प्रवृत्त करते थे। 'मनुष्य के भीतर से मनुष्य'—यह अनुभव समाज से स्वतन्त्र होने के माध्यम की खोज करने की अवस्था में आता है। सामाजिक अवस्था में मनुष्य को पराधीन होने का अनुभव सामने आता है। ऐसे समय में नियमों एवं संगठनों से मुक्त होने के उपक्रम सामाजिक दायित्व से कटकर स्वतन्त्र होने का माध्यम अपनाना पड़ता है। सुखमय जीवन की कल्पना के स्वागत के लिए एक मात्र यही द्वार खुला हुआ है।

हिन्दी कविता के विचार में केवल मार्गों के चयन में क्रियाहीन मानसिकता सामने आती है। उसी का समर्थन वे अलगाव दर्शन से कर लेते हैं। फिर वे उसी को संघर्षहीन मार्ग के चयन का आधार मानते हैं। जबकि तेलुगु कविता के सैद्धांतिक चिंतन में दायित्व निभाने के लिए खुला हुआ एक मात्र माध्यम के रूप में उसे वस्तुगत जीवन यथार्थ का मार्ग मानकर ग्रहण करते हैं। फिर भी ऐसे माध्यम को उद्देश्यों की पूर्ति का माध्यम नहीं बनाते हैं। हिन्दी में इस मार्ग को औपन्यासिक कविता का मार्ग बनाते हैं जबकि तेलुगु में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिवेश की विकृतियों के संदर्भ में कविता और गद्य के मिश्रित साहित्यिक वाद बनाते हैं। अंतर्मुखी बनाने वाली नीति का सम्बन्ध जीवन की कटुता से आतंकित व्यक्तित्व की देन मानते हैं। ऐसे नये आग्रह में एक सामंजस्य है और वह दृष्टिकोण गत सामंजस्य है। वह चेतनायुक्त जीवन बिताने वाली जीवन कला है। हिन्दी में उसका मार्ग संवेदन का मार्ग है। और स्रोतों की ओर वह संकीर्ण होता जाता है। दोनों के मार्ग आत्मगत हैं। परन्तु तेलुगु का मार्ग अंतर्दृष्टि सम्पन्न है। सुन्दरता और वास्तविकता उसके उपादान हैं। दैनिक समस्याएँ, सामाजिक संघर्ष, जनता की विवशताएँ उसमें विशिष्ट नहीं हो पाती हैं। दृष्टिकोणगत सार्थकता ही उसका संदर्भ है। 'सरस' और 'विरसता' के पद्यों और वैसी अनियमितताओं के अन्त में करने में संत्रस्त बनाने वाली परिस्थितियाँ उसकी सामाजिक चेतना मृत्यु दर्शन का भी आह्वान करती हैं।

संकट के क्षणों में आस्थाहीन व्यक्ति का स्वरूप जो हिन्दी कविता में उभर आता है जो बुद्धि को उलझाता है, संघर्षों से निखार होने की आस्था से वंचित

होने का प्रयत्न करता है। वहाँ के हिन्दी के काव्य पुरुष का कलेवर चिन्ताहीन अमूर्त के अनुरूप है। जबकि तेलुगु के काव्य पुरुष का कलेवर लोक के अभाव का अनुभव नहीं देता बल्कि लोक के साथ जुड़े हुये अंतर्दृष्टि का मार्ग पनपने को प्रेरित करता है। जीवन के नायक होने का आधार दृष्टिकोण गत स्थापित किया जाता है। व्यक्तित्व के परिष्कार का मार्ग दोनों में अनुभूति आश्रित है। फिर भी तेलुगु कविता की अनुभूति चेतना जन्य है और हिन्दी कविता की अनुभूति स्रोतोन्मुख है।

हिन्दी कविता का कला क्षेत्र मानवीय संदर्भ को सीमित बनाने का प्रयत्न करता है। एक उदासीन दृष्टिकोण के कारण सच्चे मार्ग की खोज में अवरोध खड़ा कर देते हैं। कला सृजन एवं उत्पादन के धरातलों के संघर्ष को उदासीन हो छोड़ देते हैं। एक अविश्वासी का मार्ग अपनाया जाता है। लोक के अभाव का अनुभव कराते हैं। सारे परिवेश को दर्द के रूप में बदलना चाहते हैं। वेदना को जीवन दर्शन का स्तर प्रदान करना चाहते हैं। फिर भी यह स्मरण करना आवश्यक है कि छायावाद के कवि प्रसाद वेदना को सांस्कृतिक अंश बनाकर राष्ट्रीय सांस्कृतिक रूप प्रदान कर उसका मूल्य स्थापित कर वेदना को जीवन दर्शन का स्तर प्रदान कर सके थे। वैसे व्यक्ति ने वेदना को महाकाव्य बना दिया था। कामायनी ही उसका उदाहरण है। उपन्यास भी महाकाव्य के लिये योग्य काव्य रूप है। गोदान उसका उदाहरण बना है। अर्थात् औपन्यासिक कविता को स्वर देने के लिये कला को जीवन के विस्तार और गहराई में जाना चाहिये। जीवन की यंत्रणाओं से मुक्ति की कामना करने वाले हिन्दी के कवियों से यह अपेक्षा की जा सकती थी कि वे तलाश की प्रतीक्षाओं को जीवन मे जोड़कर मूर्त रूप प्रदान करें। जीवन कला का यह यथार्थ और यह ध्येय मूर्त चिन्ता को रूप दे। ऐसा न कर चिन्ता को अमूर्त बनाने के कारण इनका काव्य पुरुष अमूर्त के पक्ष में या पलायन के पक्ष में खो जाता है। जनता के संगठनवाद और सामूहिक कार्यवादी का विरोध करना अलग है और अनुभव की अद्वितीयता पर मुग्ध होना अलग है।

तेलुगु कविता का विचार संगठनात्मक और सैद्धांतिक प्रतिबद्धता में विश्वास नहीं रखता फिर भी उसने अंत:दृष्टि का समर्थन किया जो सुन्दरता और वास्तविकता का जोड़ ही है। सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व का रूप पूरी तरह से उभारा नहीं या इसका लाभ पूँजीवादी उठा सकते हैं। जबकि हिन्दी में इसका न कोई समर्थन मिलता है बल्कि अंतर्मुखी व्यक्तिवाद का बँधा हुआ मध्यवर्गीय रूप तक ही उसकी सीमा बनी हुई है। जबकि तेलुगु की अस्तित्ववादी कविता में व्यक्ति को चेतन बनाने का आग्रह माध्यम के नयेपन में प्रस्तावित है। यहीं पर दोनों कविताओं की निजता और मौलिकताएँ उद्भासित हो पाती हैं।

5
स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-तेलुगु कविता और मनोविश्लेषणवाद

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता : मनोविश्लेषणवाद

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में फ्रायड की मनोविश्लेषण से सम्बन्धित अवधारणाओं को लक्षित किया जा सकता है। फ्रायड की यह प्रमुख मान्यता रही है कि मनुष्य की प्रधान चेतना 'कामवृत्ति' है। कामवृत्ति (Sex instinct) के दमन से मनुष्य के अन्दर अस्वस्थ विचारों का प्रादुर्भाव होता है। अतः इस वृत्ति के सहज विनियोग में ही व्यवस्थता निहित होती है। लेकिन सवाल यह है कि कविता में इस वृत्ति की प्रासंगिकता को कवियों ने किस रूप में स्वीकार किया है। कविता के भीतर अंततः कामवृत्ति का मनोवैज्ञानिक स्वरूप क्या है जब यह स्पष्ट हो जायेगा तो अनायास ही कवि और कविता का असली रूप प्रकाश में आयेगा।

तार सप्तक के अपने वक्तव्य में अज्ञेय ने आज के मनुष्य को यौन वर्जनाओं का पुंज कहा है। उन्हीं के शब्दों में–"आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुंज है। उसके जीवन का एक पक्ष है उसकी सामाजिक रूढ़ि की लम्बी परम्परा, जो परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ विकसित नहीं हुई, और दूसरा पक्ष है स्थिति परिवर्तन की असाधारण तीव्र गति जिसके साथ रूढ़ि का विकास असंभव है। इस विपर्याय का परिणाम है कि आज के मानव का मन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएं सब दमित और कुंठित हैं। उसकी सौन्दर्य चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं······।"[1]

फ्रायड के सिद्धान्तों तथा अज्ञेय के उक्त वक्तव्य के प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए डॉ. अनंत मिश्र ने लिखा है–"लज्जा और गोपन के स्थान पर नारी के

1. तार सप्तक–पृ. 278

अंगों को उघाड़ने में कवियों ने अधिक दिलचस्पी ली।·· यद्यपि कविता के सौन्दर्य (यहाँ नारी सौन्दर्य से मतलब है) के शरीरी होने के पीछे और भी कई कारण हैं, जैसे मनुष्य को विज्ञान द्वारा दी गयी दीक्षा या निरंतर की संस्कारहीनता, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि फ्रायड के काम सम्बन्धी विचारों तथा अज्ञेय के इस आशय के वक्तव्य का हिन्दी कविता के ऊपर गहरा असर पड़ा। छायावाद की "देवि, सहचरि" बिस्तर की औरत बनी। कवियों ने स्त्री को पुरुष की प्रकृति न समझ कर उसको उघाड़ने में खास दिलचस्पी ली। और यह सब रोमैंटिकता के विरोध के नाम पर हुआ।"[1] इसका नतीजा यह हुआ है कि कविता में सौन्दर्य-बोध बदल गया है।

यह स्पष्ट है कि मनुष्य की मनोगत भावनाएँ जाने-अनजाने उसकी चेष्टाओं, उसके हाव-भाव तथा उसकी कथनी-करनी में प्रकट होती हैं। यह निस्संदेह है कि फ्रायड ने अपने मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्तों के माध्यम से मानव स्वभाव के अनेक व्यक्तिगत और सामाजिक पक्षों पर रोशनी डाली है। और उसकी ओर सबका ध्यान आकर्षित किया है। लेकिन मनुष्य जीवन को प्रभावित करने वाली मौलिक चीजों को स्पष्ट करने में वे पूर्णतः असफल रहे हैं। इसलिए उनका यह मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण अधूरा ही नहीं अवैज्ञानिक भी ठहरता है। क्योंकि वह मानव स्वभाव को निश्चित एवं स्थिर बताता है जबकि वह निरंतर परिवर्तनशील एवं विकासशील है, जैसा कि सामंतयुगीन व्यक्ति स्वभाव पूँजीवादी युग में नहीं मिलता है। बदलते हुए युग और संदर्भ के साथ ही मानवीय मूल्यों में परिवर्तन अनिवार्य है। इस संदर्भ में व्यक्ति समाज से गहरे रूप से जुड़ता है और अपनी आत्मीय अनुभूतियों को नये परिवेश में प्रस्तुत करता है। लेकिन फ्रायड व्यक्ति और समाज को अलग करके देखते हैं और समाज व्यक्ति के लिए अभिशाप मानते हैं जिससे व्यक्ति छोटा अंतर्मुखी एवं कुंठा ग्रस्त हो जाता है।

फ्रायडीय विचारों से प्रभावित स्वातंत्र्योत्तर कविता के अंतर्गत अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, भारती, शमशेर, श्रीकांत वर्मा, जगदीश गुप्त, नरेश मेहता जैसे अनेक कवियों को देखा जा सकता है। जिनकी कविताओं में नारी के सहज व्यक्तित्व और उसके साथ पुरुषों के स्वाभाविक सम्बन्धों को अनावृत रूप में व्यक्त किया है। नयी कविता के कवियों के रचना-संसार के संदर्भ में डॉ. उर्वशी ज. सुरती द्वारा दिया गया यह मंतव्य मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित सभी कवियों के लिए सही प्रतीत होता है। जैसा कि उन्होंने कहा है–"नये कवियों की प्रवृत्ति एकांत अन्तर्मुखी है और वे मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रभाववश अवचेतन का अध्ययन कर उसे मुख्य विषय के रूप में उप-अभिशाप मानने लगते हैं।" वह वास्तव

1. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता–अनन्त मिश्र, पृ. 295

में "आत्मायी अंतर्मुखी व्यक्तित्व" वाला हो जाता है। समाज के हित में नहीं होता है। मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों से प्रभावित कवि वर्तमान सामाजिक विषमताओं को देखकर अपने जीवन को अनेक जटिलताओं और संकटों से गुजरता पाता है। और यह अनुभव करता है कि जीवन पूर्णतः अभावों से युक्त है। ऐसी स्थिति में उनका मन जीवन को निरर्थक मान बैठता है। यथा–

"जिन्दगी
दो अँगुलियों में दबी
सस्ती सिगरेट के जलते हुए टुकड़े की तरह,
जिसे कुछ लम्हों में पीकर
गली में फेंक दूँगा।"[1]

उपर्युक्त कविता में कवि जीवन को निरर्थक और संतप्त पाकर फेंक दिये गये सस्ती सिगरेट के जलते हुए टुकड़ों के रूप में जीवन को प्रस्तुत करते हैं। यह मन का विघटित रूप मात्र है। जब मन के लिए संघर्ष असह्य प्रतीत होता है तो निश्चित रूप से उनका मन भी टूटे हुए दर्पण की भाँति टुकड़ों में बँट जाता है।

वैसे तो आज का काव्य सामाजिक और वैयक्तिक दोनों ही दृष्टियों में अभाव का काव्य है। यही अभाव व्यक्ति में हीन भावनाएँ और कुंठाएँ उत्पन्न करने का उत्तरदायी है। कवि अपने इन्हीं अभावों और इच्छाओं की अभिव्यक्ति काव्य के माध्यम से करते हैं। जब समाज व्यक्ति के लिए अभिशाप है तो स्पष्टत. वह अंतर्मुखी तथा कुण्ठाग्रस्त हो जाता है। जैसे–

"वंचना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तान
शिशिर की राका निशा की शान्ति है निस्सार
× × +
निकटतर धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र सिंचित मृतिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नत ग्रीव
धैर्य, धन-गदश।"[2]

भोगमय रतिक्रीड़ा और वासनामय अश्लीलता का जितना ऐन्द्रिय, वस्तुनिष्ठ और ओजस्वी चित्रण कुण्ठा दर्शन के अंतर्गत हुआ है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है।

1. नरेश मेहता
2. शिशिर की राका निशा–अज्ञेय, पृ. 286

"पूर्णमासी रात भर
पीति रही सुधा
अंक में शीश के सिमट कर
धोती रही श्यामल बदन
सुध-बुध बिसार
दिन सुनहरी सेज पर
तारकों का जाल था जिस पर बना
पूर्णिम की सुख भरी थी रात।"[1]

मानव के अवचेतन की स्थिति सदियों का परिणाम है। जैसे-जैसे मानव की जटिलता बढ़ती गयी वैसे-वैसे अवचेतन दृढ़ होता गया। मनोविज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति मन के स्तरों को नहीं जानता है। लेकिन जिस मन को हम सब कुछ मान बैठे हैं वह तो एक पतली-सी पर्त या रेखा है। इसके नीचे मन का व्यापक स्वरूप छिपा है जिसमें तात्विक, राजासिक और तामासिक वृत्तियों का उद्गम है। सारे जीवन को, समस्त मूल प्रेरणाओं को चेतन मन के नीचे दबा अवचेतन मन संचालित करता है–

"सत पुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए से,
ऊँघते अनमने जंगल
बन सको तो धँसो इनमें,
धँस न पाती हवा जिनमें।"[2]

वास्तव में अवचेतन का अस्तित्त्व सदियों से है, मानवता के जन्म के साथ-साथ उसका आविर्भाव है लेकिन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का जब सुसंगत क्रम में प्रतिपादन हुआ है तो अवचेतन के विस्मयकारी रहस्यों का उद्घाटन हुआ है जिनमें मन की अच्छाइयों के साथ-साथ बुराईयाँ भी प्रकट होने लगी हैं। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि बुराईयाँ सदैव मन की अच्छाइयों पर सवारी करने के लिए तत्पर रहती हैं। और बुराईयों के साथ मन के दुख प्रतिक्रिया के रूप में वहीं छिपे हैं जो दुर्दमनीय बनकर विकृत स्वरूप धारण कर लेते हैं।

अवचेतन के रहस्यों को, अवचेतन के सत्य को और स्वरूप को चेतन मन स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता क्योंकि अवचेतन में निहित तत्त्व और तथ्य चेतन मन के विपरीत रहते हैं। व्यक्ति इस अवचेतन को अपने जीवन के

---

1. दूसरा सप्तक–शकुन्तला माथुर, पृ. 39
2. मुक्तिबोध रचनावली भाग-1–पृ. 405

संदर्भ में असंगत मानता है और अपने व्यक्तित्व से उसे सम्बन्धित करने को तैयार नहीं होता, वह मात्र विस्मित, चकित रह जाता है। जैसे–

"स्वयं की असंग, अप्रभावित,
असम्पर्कित तटस्थ अंधकारिता को देख-देख
चकित है,
विस्मित है।"

किन्तु अवचेतन का अस्तित्व है ही और उसकी सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता–

"ये सदियों के खण्डहर हैं।
झिल्लियों की सेना
अन्तर पुकार को रौंदे,
चीत्कार भरती है।"[1]

अवचेतन की प्रवलता मनुष्य की मानसिक जड़ता बनकर उसकी प्रज्ञा को रौंद रही है। जिससे मनुष्य समाज से पूरी तरह कटकर अंतर्मुखी और संकुचित होता जा रहा है। अवचेतन का वास्तविक रूप विराट भयंकरता और घोर अन्धकार से पूर्ण है। "अवचेतन का उद्वेलन, कुंठित तृष्णाएँ, अतृप्त पिपासाएँ आदि मानव जीवन की सामूहिकता और मानव मन की संगठितता को नष्ट करने वाला विद्रोह है।"[2] अतः आधुनिक युग में मानव मन भ्रांत, विश्रृंखलित, असंतुलित एवं अस्वस्थ प्रतीत होता है–

"आज तो बीमार सभी,
बेहोश सभी,
सबके दिमागों में भरा
क्लोरोफार्म की मश्क की तरह तेज
यह अन्धेरा, वो अन्धेरा–
वो अन्धेरा–"[3]

अथवा

"महीनों से सपने बीमार हैं
×   ×   ×
अजीब मजबूरी है।"[4]

---

1. कला और बूढ़ा चाँद–पंत, पृ. 75-76 विकास
2. रजत शिखर–पंत, पृ 30
3. बन पाखी सुनो–नरेश मेहता, पृ. 18
4. आधुनिक कवितायें–सं० रणधीर सिन्हा, पृ. 36 (बीमार सपने)

कवि के मानसिक असंतुलन प्रकट करने वाली अनेक कविताएँ प्रमाण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। मिसाल के तौर पर अज्ञेय की निम्नलिखित कविता देखी जा सकती है जिसमें मुख्यत: रचना-प्रक्रिया में मानसिक प्रभाव का प्रमाण लक्षित किया जा सकता है–

"गहरे में कुछ इतना सूना जो,
भिद कर भी लौटा ही देता है प्रकाश
× × ×
सतहें–कच टुकड़े,
यही जुटा पाये हम।"[1]

चेतन मन को अवचेतन का ज्ञान नहीं है। मनुष्य जब अपने मन के रहस्यों की खोज करने का प्रयत्न करता है तो विपरीत भावनाओं को पाता है। चेतन मनोवृत्तियों और अवचेतन मनोवृत्तियाँ परस्पर नितांत भिन्न रहने के कारण दोनों के बीच समाधान अवश्य बन जाता है। अजित कुमार की यह पंक्तियाँ ही इसे प्रमाणित करती हैं।–

"डूबे हैं नींद में,
खोए हैं स्वप्न में,
चेतन से परे ये हम,
लीन हैं अवचेतन में !
    हम तो अप्रस्तुत हैं,
    इसीलिए सुरक्षित हैं।"[2]

एकांत व्यक्तिवाद, आत्मरति, सामाजिक विद्रोह की भावना, वासनाओं की अतृप्ति आदि के कारण कुंठाओं की अभिव्यक्ति को प्रश्रय प्राप्त हुआ। यही कारण है कि श्रृंगार का अस्वस्थ रूप भी व्यक्त होने लगा–

"आह मेरा श्वास है उत्तप्त
धमनियों में उमड़ आई लहू की प्यास–
प्यार है अभिशप्त–
तुम कहाँ हो नारी ?"[3]

यह अस्वाभाविक नहीं है। यह तो मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रभाव का परिणाम मात्र है। क्योंकि मानसिक विकारों का मूल स्रोत जैसा कि फ्रायड ने माना है कि मानव की काम चेतना है जिस पर दुर्बल मन का वश भी नहीं चलता

1. अरी ओ करुणा प्रभामय–पृ. 33
2. अकेले–कंठ की पुकार—पृ. 54
3. हरयलम–अज्ञेय, पृ. 157

और दमन के कारण नियमित पीड़ाओं का शिकार बना रहता है। काम चेतना की मुक्ति और उसके दमन के कारण उत्पन्न जटिल ग्रन्थियों का सुलझाव परम्परित नैतिक दृष्टिकोण को बदल कर राग-द्वेष, कुत्सा और कलंक की संकुचितता से बचाने से सम्भव है। मनोविश्लेषण के अनुसार सभ्यता के नाम पर दमन और नियन्त्रण "रुद्ध आकांक्षा का करुण आख्यान"[1] है जो अस्वस्थ मानसिक प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी है। परिणामत: स्वातन्त्र्योत्तर कविता में प्रेम, काम और नारी के प्रति स्पष्टत: बदला हुआ दृष्टिकोण दिखाई देता है। प्रेम और काम के सह अस्तित्व को स्वातंत्र्योत्तर कवि ने सहज स्वाभाविक दृष्टि से देखा है। यों तो स्वातंत्र्योत्तर कविता में प्रेम को काम से पृथक नहीं माना है। यही कारण है कि स्वातंत्र्योत्तर कवि मन के रिश्ते के साथ-साथ तन के रिश्ते की भी चर्चा करता है। अत: स्वातंत्र्योत्तर कवि प्रेम को काममय करके देखता है।

आम तौर पर काम के प्रति दो प्रकार के दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। एक तो वह काम जो मन के धरातल पर खड़ा रहने के कारण तन और मन से भी ऊपर उठता दिखाई देता है और दूसरा वह जिसमें काम भोग का पर्याय बन कर आया है। स्वातंत्र्योत्तर कविता में ये दोनों ही रूप उपलब्ध होते हैं हालांकि अधिकांश कविताएँ भोगासक्ति की ओर ही अग्रसर हैं।

स्वातंत्र्योत्तर कवियों ने भोग को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानकर सामाजिक नैतिकता का परित्याग कर स्वच्छन्द भोग की प्रवृत्ति को विशेष रूप से प्रसार किया है। स्वातंत्र्योत्तर कविता में इस प्रवृत्ति को स्पष्टत: लक्षित किया जा सकता है। यहाँ पर स्पष्ट करना अनावश्यक ही होगा कि स्वातंत्र्योत्तर कविता में जो मांसल प्रेम या काम संयुक्त प्रेम का स्वरूप दिखाई देता हैं वह फ्रायड के यौनवाद के पर्याप्त निकट है।

> "आज मुख्य मेहमान तुम
> रात के 'फ्लोर शो' में
> एक बार, बस एक बार
> अपने तन की छाप छोड़ जाओ
> मुझ पर।"[2]

मनोविश्लेषणवादियों के अनुसार वासना की इच्छा की पूर्ति सहज और अनिवार्य रूप से होनी चाहिए। शरीर का सुख ही आत्मा का सुख माना गया है तथा बताया गया है कि शरीर सुख को न पा सकने वाला व्यक्ति कुंठा ग्रस्त और अपूर्ण व्यक्तित्व वाला बन जाता है। व्यक्ति के जीवन की उन्नति तथा खुशहाली

1. रजत शिखर-पंत, पृ. 23
2. समानांतर सुने-श्रीमती शान्ता सिन्हा, पृ. 53

के लिए शरीर भोग अनिवार्य है। वैराग्य और विरक्ति भोग व शारीरिक तुष्टि के बाद ही कामयाब हो सकते हैं। इसी अवधारणा से अभिभूत अनेक रचनाएँ स्वातंत्र्योत्तर काल में पायी जाती हैं जिनमें खुले आम "भोग लिप्सा" का प्रतिपादन हुआ है। यथा–

"मैंने कसकर तुम्हें जकड़ लिया है
और जकड़ती जा रही हूँ
और निकट और निकट
और तुम्हारे कन्धों पर, बाहों पर, होठों पर,
नागवधू की शुभ्र दंतपंक्तियों के नीले-नीले चिन्ह
उभर आये हैं।"[1]

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि स्वातंत्र्योत्तर कविता में काम के दो रूप परिलक्षित हैं और तन के रिश्ते से ऊपर उठकर मन के स्तर पर प्रेम को स्थापित किया गया है। वास्तव में यह स्थापन तन से मन की ओर है। यही कारण है कि प्रेम जहाँ भोग का पर्याय बना है। वहाँ वह तन और मन से भी ऊपर उठा दिखाई देता है। अर्थात्–

"तन का –
केवल तन का रिश्ता भी
मांसलता से कितना ऊपर उठ जाता है
अब यह जूही के फूलों-सा तन नहीं रहा
पर इसमें पहले से कहीं अधिक जादू है।"[2]

स्वातंत्र्योत्तर कवि मुक्त और स्वच्छंद प्रेम को विशेष महत्त्व देता है। इस क्षेत्र में कोई भी नैतिक बन्धन प्रेम की स्वाभाविक गति को कुंठित कर देता है। असल में स्वातंत्र्योत्तर कविता के कवि ने "आज के जन संकुल युग में आधुनिक प्रेमी की विविध बाधाओं के संदर्भ में अपनी उन्मुक्त, बाधाहीन, खुले और स्वच्छंद प्रेम की इच्छा को अभिव्यक्ति देकर आधुनिक युग के प्रेम सम्बन्धी तनावों का बड़ा ही कलात्मक चित्रण किया है।"[3] सामाजिक रूढ़ियों, वर्जनाओं, और अर्थ वैषम्य जनित मानव की विवशताएँ किस तरह प्रेम मार्ग में बन्धन बनकर बाधाएँ उत्पन्न करती हैं–इसे प्रमाणित करने के लिए अनेक कविताएँ उपलब्ध हैं। मिसाल के तौर पर भारतभूषण अग्रवाल की यह कविता द्रष्टव्य है–

1. कनुप्रिया–धर्मवीर भारती, पृ. 54
2. सात गीत वर्ष–धर्मवीर भारती, पृ. 30
3. अज्ञेय की कविता एक मूल्यांकन–चन्द्रकांत वांदिवडेकर, पृ. 47

"तुम अमीर थी !
इसीलिए हमारी शादी न हो सकी
पर, मान लो, तुम गरीब होती
तो भी क्या फर्क पड़ता ?
क्योंकि तब
मैं अमीर होता ।"[1]

स्वातंत्र्योत्तर कविता के कवि ने प्रेम के मिलन-चित्रों को ही विस्तार से अंकित किया है । मिलनोपभोग की अपेक्षा मिलनाकांक्षा, मिलनातुरता तथा कहीं-कहीं सांकेतिक मिलन चित्र ही अधिक उतारते हैं । जैसे–

"लिपट गयी अंग-अंग लपट सी, गोरी मोरी
गेहुँअन साँप
अधर परस-आकुल मन मेरा आंगन घर न बुझाय,
निशि नहि नींद, न जाग दिवस में, गोरी मोरी
गेहुँअन साँप ।"[2]

उक्त कविता में कवि ने एक संयोग चित्र के माध्यम से प्रेयसी को "गेहुँअन साँप" की उपमा दी है । उसके शरीर से मद-लहरियां फूटती हैं और नयनों में टोना और अंगों में तरंग भर कर रात्रि बेला में पिय राह में खड़ी हो जाती हैं। मिलनाकांक्षा के चित्रों के संदर्भ में सक्सेना की यह कविता भी दर्शनीय है–

"ये फूल सेज के चरणों पर धर देने दो
मुझको आँचल में हर सिंगार भर लेने दो,
मिटने दो आँखों के आगे का अँधियारा
पथ पर पूरा-पूरा प्रकाश हो लेने दो
यह ठण्डी-ठण्डी रात उनींदा सा आलम
मैं नींद भरी सी चले नहीं जाना बालम ।"[3]

एक और बात उल्लेखनीय है । मनोविश्लेषणवादी सिद्धांतों से प्रभावित स्वातंत्र्योत्तर कविता में अहं का महत्त्व अनवरत बढ़ता गया । इसके पीछे वही भावना सक्रिय है जो यह मानकर चलती है कि समाज व्यक्ति को अनुशासन में बाँध कर उसकी स्वतत्र व्यक्ति सत्ता को आहत करने की चेष्टा करता है जो अनुचित है । अज्ञेय की निम्नांकित कविता इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है–

1. ओ अप्रस्तुत मन–पृ. 103
2. मदन वात्स्यायन–तीसरा सप्तक, पृ. 102
3. तीसरा सप्तक–सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, पृ. 229

"यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।"[1]

अज्ञेय की इन पंक्तियों के अकेलापन में एक व्यष्टिबोध है, इसलिये अकेले दीप को पंक्ति के लिये दिये जाने का अनुरोध भी किया है पर इस अकेलापन के अतिरिक्त एक दूसरा भी अकेलापन अहं बोध के रूप में लक्षित किया जा सकता है। यह अहं बोध मनोविश्लेषण सिद्धान्तों की ही उपज है।

यह स्वाभाविक है कि जब किसी व्यक्ति के मन में अहं पैदा होता है तो निश्चित रूप से उस व्यक्ति को संसार से कुछ ऊपर उठा देता है। लक्ष्मीकान्त वर्मा की यह कविता इसे प्रमाणित करती है–

"मैं हूँ
मैं एक छोटा किन्तु जागरूक असित्त्व
मैं ही नल हूँ
अजगर-सा चाय की पत्तियाँ निगलता हूँ
मैं ही अपने विष से, स्टोव को ठण्डा कर जीता हूँ
मैं ही शराब की बोतल ले
रामायण से गीता तक जीता हूँ
मैं, लक्ष्मीकांत, सत्यवान, नल, दुष्यन्त आक्रांत
मैं जो क्षण-क्षण जन्मता हूँ मरता हूँ
मैं जो दुर्वासा का शाप थी फिर भी नहीं भूलता हूँ
तुम्हें
तुम्हारे भरत को
उस विष बुझे तीर को
सुहाग की पीट को।"[2]

लक्ष्मीकांत वर्मा ने अन्यत्र लिखा है–"कला के वास्तविक आयाम उसके वास्तविक अर्थ को बिना अहं के प्राप्त ही नहीं किया जा सकता है। ... आंतरिक यथार्थ और अनुभूति का सूक्ष्म विवेचन और उस विवेचन के साथ व्यापक यथार्थ का संतुलन, यह कलाकार के अहम् के माध्यम से ही हो पाता है।"[3]

अतः स्वातंत्र्योत्तर कविता के फ्रायडीय विचारों से प्रभावित कवि नारी की सामाजिक भूमिका प्रस्तुत करने के बजाय दमित वासनाओं की पूर्ति के केन्द्र

1. चुनी हुई कविताएँ–पृ. 57
2. नयी कविता अंक-4–पृ. 116-117
3. नयी कविता के प्रतिमान–पृ. 239

में रखते हैं। प्रेम को काममय बताते हुए उदात्त रूप देते हैं। इसके लिये स्वातंत्र्योत्तर कविता के कवि ने जो दौड़ लगायी है वह तन से मन की ओर दौड़ है। नारी के प्रेयसी, पत्नी और विरहिणी रूपों को, जैसा कि प्रगतिवादी कविता से पूर्व की कविता में अभिव्यक्त नारी के रूप से कुछ व्यावहारिक है, विशेष महत्त्व दिया है।

सारांशतः मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्तों से लैस कवि समाज से परे स्वप्न जीवन बिताने में रम जाता है। व्यक्ति स्वातंत्र्यता तथा वैयक्तिक वासनाओं की पूर्ति ही उनके मुख्य लक्ष्य बन जाते हैं और सामाजिक दायित्वों से बहुत दूर निकल जाता है। समाज में हो रहे विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक आन्दोलनों का कोई प्रभाव नहीं रहता क्योंकि वास्तव में समाज उनके लिए अभिशाप है।

स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु कविता और मनोविश्लेषणवाद

आधुनिक युग में पाश्चात्य विचारधाराओं में से मार्क्सवाद के बाद मनोविश्लेषणवाद ने साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित किया है। मनोविश्लेषणवाद के प्रचार-प्रसार में फ्रायड, युग और एडलर का विशेष योगदान रहा है। साहित्य में व्यक्तिवादी चिन्तन पर मनोविश्लेषणवाद का अधिक प्रभाव है। मनोविश्लेषणवाद के अनुसार साहित्य अवचेतन मन की अभिव्यक्ति है। फ्रायड के अनुसार जिस प्रकार स्वप्न हमारी अतृप्त वासनाओं की पूर्ति के साधन होते हैं, उसी प्रकार कला-सृजन में हम अपनी दमित वासनाओं की पूर्ति प्रतीकों के रूप में करते हैं। आनन्द का निर्माण करना ही साहित्य का प्रमुख उद्देश्य है। वास्तविक जीवन में मनुष्य अनेक क्लेशकारी संवेगों एवं विषम परिस्थितियों से प्रताड़ित होता है। लेखक मनुष्य के वास्तविक जीवन के क्लेशकारी संवेगों को दूर करने के लिये प्रयत्नशील रहता है और अपनी रचनाओं के द्वारा विषमतापूर्ण परिस्थितियों से उठाकर कुछ क्षणों के लिए विभ्रमित कर देता है। प्रायः कवि की अभिव्यक्ति प्रतीकों द्वारा होती रहती है, कारण स्पष्ट है कि अवचेतन मन की खुली अभिव्यक्ति सामाजिक मर्यादाओं के कारण संभव नहीं है। दमित वासनाएँ प्रतीकों, बिम्बों सूक्ष्म मानसिक प्रविधियों आदि के द्वारा अनंत रूपों में अभिव्यक्ति पाती हैं। अतः अवचेतन मन की अवस्था के चित्रण में सामाजिक नियम एवं नैतिकता का स्पष्ट अतिक्रमण मनोविश्लेषणवादी रचनाओं में उपलब्ध होता है।

मनोविश्लेषणवाद के मूल तत्त्व संक्षिप्ततः निम्न लिखित हैं–

1. कला दमितकाम–वासना का उदात्तीकरण है।
2. दमित काम-वासना कला में प्रतीकों के रूप में प्रकट होती है।
3. सौन्दर्य गत भाव भी काम वासना से सम्बद्ध है।

4. कला जीवन से पलायन की सृष्टि है।
5. कला और नैतिकता का कोई सम्बन्ध नहीं है।
6. सौन्दर्य का सांस्कृतिक मूल्य नहीं है।
7. आनन्द की निर्मिति का कारण निर्वैयक्तिक सह-अनुभूति है।[1]

स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु कविता में मनोविश्लेषणवाद की प्रवृत्तियाँ कहीं-कहीं लक्षित की जा सकती हैं। फ्रायड ने मनुष्य की इच्छाओं के मूल में Libido (कामेच्छा) को ही माना है। श्री रंगम नारायणबाबू ने फ्रायड के काम सम्बन्धी सिद्धान्त Libido से प्रभावित होकर "लेंडोयऋषुलु" (जागो हे ऋषी) शीर्षक कविता लिखी है। इस कविता में कामेच्छज्ञ सुख-लालसा को मनुष्य के सहज गुण के रूप में घोषित किया है। उनके अनुसार इन्हें दबाना उचित नहीं है। कविता द्रष्टव्य है–

"पलक-शैय्या पर
चश्मा ने नाक के साथ
व्यभिचार किया
× ×
सड़ी साग-सब्जियाँ
झपकियाँ ले रहीं तो
टमाटर और माँस का टुकड़ा मिलकर
अखंड संध्या राज कर रहे हैं।"[2]
और काम-वासना की उपेक्षा का आक्षेप[3] तथा

1. हिन्दी साहित्य में प्रतिबिंबित चिंतन प्रवाह–गोकाककर एवं कुलकर्णी–पृ.140
2. कनुरेप्पल सेज्ज मीद
कल्लजोड्डु मुक्कु तोड
व्यभिचरिंचे
× × ×
कुल्लु पोयिन कूर गायलु
कुनिकि पाट्लु पडुतुंटे
टमाट पंडु मांसबुक्क कलिसि
अखंड संध्या राज्यम चेस्तुन्नायि।
–रुधिर ज्योति–श्रीरंगम नारायण बाबू, पृ. 149-150
3. पत्तिगिजलु चुक्कलु गोल्लतो नोक्कंडि
सुरविलासवतुलु चूचुकोने
अद्दम चन्द्रुनि ब्रद्दलु कोट्टंडि
– रुधिर ज्योति – श्रीरंगम नारायण बाबू, पृ. 151

काम की प्रमुखता का उद्घोष करते हैं[1]–

स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु कविता में मनोविश्लेषणवाद का प्रभाव बहुत सीमित है। वह तेलुगु कविता में एक 'वाद' के रूप में विकसित नहीं हुआ है। एक-दो कवियों की रचनाओं में मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्तियाँ प्रस्फुटित हुई हैं। देवर कोंड बाल गंगाधर तिलक इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं।

मनोविश्लेषणवाद के अनुसार वास्तविक जीवन की जटिलताओं तथा वैयक्तिक जीवन की अभावग्रस्त स्थिति से जीवन निस्सार एवं निरर्थक हो जाता है। इसकी अभिव्यक्ति तिलक की कविता में इस प्रकार हुई है–

"हर ठहराव पर थक रहे हैं
मोड़-मोड़ पर झड़ रहे हैं।"[2]

आधुनिक युग में आर्थिक अभावों, सामाजिक, राजनीतिक एवं पारिवारिक समस्याओं से मनुष्य का मन विशृंखल हो रहा है। समाज में बढ़ती हुई व्यक्तिवादी भावना ने वास्तविक समस्याओं से व्यक्ति का ध्यान हटाकर भ्रमित कर दिया है। जिससे व्यक्ति निरन्तर अंतर्मुखी बनता जा रहा है। यथा–

"कमरा यह स्वप्नों से भरा हुआ है
मन मेरा स्वगतों से सिकुड़ रहा है।"[3]

मनुष्य की सभी इच्छाएँ सामाजिक नियमों व बन्धनों के कारण पूर्ण नहीं होती हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के कारण समाज में अपनी इच्छा से व्यवहार नहीं कर सकता है। अतः मनुष्य समाज से नियंत्रित एवं संचालित है। समाज के विभिन्न कार्यों का प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है। समाज के प्रभाव से मनुष्य की भावनाएँ कुछ समय तक अवचेतन मन में दब-सी रहती हैं। पूर्णतः नष्ट नहीं होती हैं। समय पाकर अभिव्यक्त होती हैं–

"आगामी आशाओं के वर्षागगन पर
वह देखो आनन्द का इन्द्र धनुष।"[4]

1. विरुलंटेन मंडिपडे
विश्वस्तल पडकगदिलो
कंचेंबुलो उद्धरणि
कम्मविल्तु केलिदेले। – रुधिर ज्योति – श्रीरंगम नारायण बाबू, पृ. 150
2. मजिलो-मजिलोकि अलसि पोतुन्नाम
मलुपु-मलुपुको रालिपोतुन्नाम – अमृत कुरिसिन रात्रि–तिलक, पृ. 61
3. ई गदि स्वप्नालतो निंडिपोयिंदि
ना मदि स्वगतालतो कुंगि पोतोंदि– अमृतम कुरिसिन रात्रि–तिलक, पृ. 10
4. आगामी आशल वर्षा गगनम मीद
अदिगो आनन्दम अने इन्द्रधनुसु – अमृतम कुरिसिनि रात्रि–पृ. 94

और आयामों के संतप्त पलंग पर स्वप्नों के पुरुष बिछाकर विश्राम करने की कामना व्यक्त करता है –

"आशाओं के संतप्त पलंग पर
स्वप्न पुष्प बिछाकर
विस्मृति बन थोड़ी देर
विश्राम करने दे हे मेरे पिता।"[1]

यह अनुभव करता है कि आकाश में परियाँ विलासनृत्य कर रही हैं–

"आकाश में परियाँ
लोचलचक भर रही हैं।"[2]

स्वातंत्र्योत्तर कवि मानसिक असंतुलन तथा अपूर्ण वासनाओं के कारण अवचेतन मन की स्थिति के चित्रण के प्रति विशेष आकृष्ट है। वास्तव में मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित कविता "भुग्त भोगी के आत्मानुभव का स्पष्ट उद्गार है। वासना तृप्ति का आनन्द प्राप्त करने के लिए सर्व कुछ समर्पित कर देता है। जैसे–

"मेरी आशा की तू अवधि बन
तेरे स्त्रीत्व पर मैं करूँगा हवन।"[3]

अपनी कुंठाओं को व्यक्त करते समय अपनी वासना जन्य भावना का खुला चित्रण करने में संकोच का अनुभव भी नहीं होता है–

"वे विपुल वक्ष नितंब भार होकर
यौवन धनुष-सा झुक रहे हैं।"[4]

वस्तुतः मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित कवियों की रचनाओं में बाह्य यथार्थ के स्थान पर आन्तरिक यथार्थ का समावेश होता है। वैयक्तिक अनुभूतियों को अग्रता मिलती है। परिणामतः व्यक्ति की कुंठा, आत्मपीड़न, दमितवासनाएँ, यौन भावाधिक्य आदि से सम्बन्धित चित्र प्रस्तुत होते हैं। फिर भी तेलुगु कविता

1. आशल वेच्चनि पान्पु मोद स्वपनाल पुष्पालु जल्लुकुनि
अदमरिचि कासेपु विश्रमिंच डानिकि अनुमतिंचुतंड्री
– अमृतम कुरिसिन रात्रि–पृ. 108
2. आकाशमीद अप्सरसलु
ओय्यारंगा परुगुलेत्तुतन्नारु – अमृतम कुरिसिन रात्रि – पृ. 95
3. नीवु ना आशकवधि वै
नेनु नी स्त्रीत्वमुन काहुतिनै – अमृतम कुरिसिन रात्रि, पृ. 61
4. वारु पृथु वक्षोज नितम्ब भार लै
यौवन धनस्सुला वंगिपोतुन्नारु – अमृतम कुरिसिन रात्रि, पृ. 95

की यह विशेषता रही है कि फ्रायड के मनोविश्लेषण को विशेष प्रश्रय नहीं मिला है। श्री रंगम नारायणबाबू, बालगंगाधर तिलक जैसे इनेगिने कवियों की कुछ रचनाओं को छोड़कर शेष तेलुगु कविता में मनोविश्लेषणवाद का प्रभाव नहीं के बराबर ही है।

तुलनात्मक निष्कर्ष

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में परम्परित नैतिक दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता महसूस की जाती थी। लेकिन विज्ञान ने संस्कारहीनता को प्रदान किया था। दूसरी ओर समाज को अभिशप्त करने वाली रूढ़ियाँ मानव को दमित और कुंठित कर रही थीं। उसी समय मानवीय मूल्यों में परिवर्तन की अपेक्षा की जाती थी। परिवर्तन की लक्ष्योन्मुखता में मनुष्य की इच्छाओं और आशाओं के अनुसरण की माँग की जाती थी। लेकिन अभावों के अनुभव में गुजरने वाले मानव के सामने जटिलताएँ और संकट आ खड़े होते थे। जो जीवन को निरर्थक साबित करते थे। मानसिक स्थर पर विघटन का अनुभव होने लगा। संघर्ष के असह्य होने की प्रतीति होती थी। सदियों के परिणाम ने कुंठा दर्शन को जन्म दिया और जटिलता के निर्माण ने अवचेतन को दृढ़ बनाया। चेतन की जगह पर अव-चेतन का संचालन होता था। मानसिक जड़ता ने (जो अवचेतन को अवस्थिति है) प्रज्ञा को रौंद दिया। जीवन की सामूहिकता और संगठितता को नष्ट करने की विद्रोही अवस्था आसन्न थी। अस्वस्थता की यह सारी प्रतीति आधुनिक युग के मानव मन के सामनें प्रत्यक्ष थी। समस्याओं के समाधान की योजना अस्वस्थ रूपों में कुंठाओं के अनुभव के रूप में व्यक्तिकृत होती तो यह सहज है कि पीड़ाओं का शिकार मन परम्परित प्रतीक दृष्टिकोण के आधारभूत प्रेम, काम और नारी अपने सामने रखकर पुनराख्यान कर सकती है।

हिन्दी के साहित्य में परम्परित नैतिक दृष्टिकोण को बदलने में इन तीन प्रमेयों का आधार लिया जाता था। सामाजिक परिवर्तन और रूढ़ियों के परि-वर्तन की परिकल्पना में रीतिकाल तक चलते आये प्रेम, काम और नारी के प्रसंग रीतिकाल में आकर नायिका भेद की प्रज्ञा में परिणत हुए थे। स्वतंत्रता पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर प्रथम दशाब्दि तक उसका रूप सांस्कृतिक वेदना के रूप में परिवर्तित हुआ। फिर भी दार्शनिक स्तर पर मिलन की अभिलाषाओं की पूर्ति या चरम परिणति के रूप में विश्वास स्थापित किया गया था। चिर विरह का प्रसंग अवास्तविक माना गया है। लेकिन स्वातंत्र्योत्तर काल में जबकि सामाजिक नैतिकता का परित्याग होने लगा है तन-मन से ऊपर उठाने के प्रयत्न या भोग के पर्याय बनने वाले रूप स्वच्छंद भोग की प्रवृत्ति का आह्वान करते थे। वैराग्य का अनुभव मानो भोग के उपरान्त ही सम्भव होने की स्थिति के उपरान्त ही

संभव सा लगता था ।

नैतिक बन्धन और प्रेम सम्बन्धी तनावों का रूप, कला के रूप में बदल जाने का रूप नये मानव की विवशताओं के अनुकूल पड़ गया है। स्वातंत्र्योत्तर कविता में सामाजिक अनुशासनों की अनुचितता व्यक्ति सत्ता की स्वतन्त्रता को आहत करने वाले रूप में सामाजिक दबावों के प्रस्ताव में प्रकट होती थी। फलतः स्वातंत्र्योत्तर कविता की कला का वास्तविक आयाम कलाकार के माध्यम को महत्त्व देता गया है। प्रगतिवादी कविता पूर्व जैसा ऊपर स्पष्ट था हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रेम, काम और नारी व्यवहारिक महत्त्व प्राप्त करते थे। आधुनिक समाज के अभिशप्त जीवन चलाने वाले सामाजिकों तथा दायित्वों से दूर निकले हुये लोगों को देखते हुए स्वप्न जीवन में ही रमने का आधार निर्मित होता है। अतः अस्तित्ववादी कविता के समान सांस्कृतिक स्रोतों और आधारों में ही प्रेरणा ढूँढ़नी पड़ती है। जबकि सामाजिक भूमिका का विरोध लोक व्यवहार से बहुत दूर है। यों तो युग का अभिप्रेत, दायित्व और नैतिकता के बन्धनों से मुक्ति या विकास के लिये परिवर्तन की आवश्यकता है।

स्वातन्त्र्योत्तर तेलुगु कविता ने हिन्दी की सीमाओं से पार जाकर समाज में व्यक्तियों की अपनी इच्छा के व्यवहार और उसके नियन्त्रित तथा सम्बन्धित रूपों पर ध्यान आकर्षित किया और प्रश्न किया था कि वास्तविक समस्याओं से व्यक्ति का ध्यान हटाना या भ्रमित कर देना कहाँ तक संगत है और इतना ही नहीं वैयक्तिक जीवन की अभावग्रस्तता को देखकर जीवन को निस्सार और निरर्थक मानना कहाँ तक उचित है और जीवन को सार्थक मानने वालों के सामने अभाव की वास्तविकता को समझने की प्रेरणा भी दी है। विचलित किया कि सामाजिक मर्यादाओं के कारण मन की खुली अभिव्यक्ति नहीं होती है इसलिए जीवन की कला में प्रतीक बिम्ब एवं अन्य सूक्ष्म मानसिक प्रविधियों का उपयोग आवश्यक हो जाता है।

सामाजिक नियमों और नैतिकता के अतिक्रमण के लिए कला और नैतिकता का तथा सौंदर्य एवं अन्य सांस्कृतिक मूल्यों, निर्वैयक्तिक सहानुभूति, आनन्द की निर्मिति मनुष्य के स्वभाव (ऋषियों की स्वेच्छा) एवं इच्छाओं के व्यवहार का संचालन (भुक्तभोगी का आत्मानुभव) जैसे कुन्ठा जन्य अनुभवों या वासना जन्य अनुभवों के साथ आंतरिक यथार्थ की जानकारी और उनका जीवन शैली में परिवर्तन का ज्ञान विकास के हित में है। उसको किसी जीवन दृष्टि या दृष्टिकोण के रूप में विकसित नहीं किया जा सकता है चूँकि जीवन का शैलिकीय अनुभव है। यह एक रीति मात्र है।

सामाजिक विकास और अस्तव्यस्तता के क्षणों की प्रतिक्रियायें हिन्दी में

केवल वैज्ञानिक स्तर पर ठहरी हैं। नायिका भेद या छायावाद की वेदना का रूप अपना नहीं सकी हैं। विकास को असम्भव बनाने वाली परिस्थितियों में जहां तर्क से काम नहीं चलाया जा सकता था वहाँ पर अनुभूतियों और संवेदना के सहारे, कुन्ठा दर्शन की सहायता से काम निकाला जा सकता है। दुर्भाग्य यह है कि उसको भारतीय परिस्थितियों के साथ न जोड़कर पश्चिमी विज्ञान की धारा केवल विश्लेषण शास्त्र तक ही सीमित कर चुके हैं। प्रज्ञान की कुन्ठा से मुक्त होना स्वातन्त्र्योत्तर कविता का विचार बन सकता है। मनोविश्लेषणवाद के लिये हिन्दी और तेलुगु कविता के योगदान के लिये संकेत आवश्यक है।

6

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-तेलुगु कविता और अतियथार्थवाद

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता : अतियर्थाथवाद

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता के अंतर्गत अतियथार्थवाद का प्रयोग 'अकविता की अतिशयता' में लक्षित किया जा सकता है। अकविता के अंतर्गत जाने वाली कविताएँ तर्क, धर्म, समाज सबका निषेध करती हैं। स्वतंत्र विचारों में इस सीमा तक विश्वास करती हैं कि उनकी किसी एक मान्यता को इस कदर स्वीकार कर लेना उनकी धारणाओं के प्रतिकूल पड़ने लगता है। जैसा कि 'अकविता' के प्रथम संकलन में यह स्पष्ट संकेत किया गया है–"आज का कवि परम्परागत रूढ़ियों तथा संस्कारों के प्रति विक्षुब्ध है और उनका काव्यात्मक संवेदन भी उसी अनुपात में परम्परा से मुक्त भी है और निस्संग भी। परिवर्तित सौन्दर्य बोध के कारण आज का कवि पिछली परम्पराओं को नकार कर अपना सम्पूर्णतया पृथक मार्ग भी खोजने में रत है।"[1] कहने की आवश्यकता नहीं है कि अकविता के संवादकों ने परम्परा का डटकर विरोध किया है। इस विरोध के मूल में देशी-विदेशी दोनों प्रभाव काम कर रहे थे। देश में भ्रष्ट राजनीति के कारण युवा पीढ़ी में अनास्था, कुण्ठा, संत्रास आदि प्रवृत्तियाँ पनपने लगीं थीं। पैसे से ऊबे विदेशी किशोर और किशोरियाँ शान्ति की खोज में भारत आकर यहाँ के युवा पीढ़ी में चमत्कार का अगिया बैताल दिखाते थे। इस युग की युवा पीढ़ी अमरीका के युवा कवि एलेन गिंसबर्ग से प्रभावित है। लेकिन इस युग के युवा पीढ़ी को संत्रस्त करने में तद्‌युगीन परिवेश ही अधिक सक्रिय है। चीन के आक्रमण, पाकिस्तान के आक्रमण, नेहरू और शास्त्री की मृत्यु ने देश को प्रभावित किया था अवश्य, लेकिन राजनीतिक क्षेत्र में बुनियादी परिवर्तन के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। आर्थिक विषमता की व्याप्ति से निम्न वर्ग ही नहीं मध्यवर्ग भी बुरी तरह से पिस रहा था। राजनीति में बुनियादी परिवर्तन लाने की गुंजाइश इसलिए

1. अकविता 1–(फ्लैप पर छपा श्याम परमार का संकेत)

नहीं थी क्योंकि कांग्रेस का भ्रष्ट तंत्र चतुर्दिक फैला हुआ था। कोई विपक्ष पार्टी इतनी शक्तिशाली नहीं थी कि कांग्रेस से टक्कर ले सके। कांग्रेस के साथ पूंजीपति, जमींदार, साहूकार, दलाल, सूदखोर, तस्कर, गुंडे बदमाश सभी थे। जनता पर काबू पाने के लिए उनके पास न तो पसे की कमी थी और न शक्ति की। कम्युनिस्ट पार्टी ने बंगाल और केरल में जनवादी दृष्टिकोण को जमीन देने का जो प्रयास किया था, वह कांग्रेस द्वारा भ्रष्ट राजनीति के दाँवपेंच को हथियार बना कर समाप्त कर दिया गया। इसी पार्टी ने अपने को इतना शक्तिशाली बना लिया है कि इसे हटाना साधारण काम नहीं रह गया है। कांग्रेस की सड़ी गली स्थिति का कुफल ने औसत आदमी को आतंकित किया है। मलयराय चौधरी की यह प्रतिक्रिया इस युग के युवा पीढ़ी के कवियों में देखी जा सकती है–

"मैं गलत गर्भ से निकलकर गलत नाम लटकाए
25 साल तक भटकता रहा
अब मैं खुद ही सब कुछ जाँच-पड़ताल
करके देखना चाहता हूँ
किसे विष और किसे मलयराय चौधरी कहते हैं
भारत वर्ष किसी की बपौती है या नहीं जानना चाहता हूँ
सिर्फ अपने सिर से पैर तकभुगत कर देखना–
चाहता हूँ बरबाद होना किसे कहते हैं।"[1]

अकविता का मूल्यांकन करते हुए ललित शुक्ल ने लिखा है–"संस्कार, सभ्यता, संस्कृति और किसी भी प्रकार के दायित्व से कटने या अलग होने की बात हिन्दी कविता में आग्रह के साथ आयी। अकविता के संदर्भ में टटकेपन, अप्रभाव और मौलिकता की जो बात श्याम परमार ने कही है, वह सिद्धान्त के स्तर पर सही है, किन्तु अकविता ग्रुप की अनेक रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें अनुत्तर दायित्व की गन्ध मिलती है।"[2] मिसाल के लिए श्याम परमार की यह कविता किस मायने में नाराज, भूखों, प्यासों से साम्य रखती है–देखा जा सकता है–

"स्तनों को रौंदते पागल कदम
खरोंचे जख्म पर
मृत मछलियाँ,
औरतों के कटे नुचड़े ध्वस्त अंगों पर
शिश्न की परछाईयाँ
एक चौड़ी आँख की घायल गुहा में कैद

1. ज्ञानोदय–महानगर विशेषांक–नवंबर 1966
2. नया काव्य नये मूल्य–ललित शुक्ल, पृ. 248

भयावह शक्ल वाला
विसंगत, विक्षिप्त नीला पुरुष ।"[1]

यह स्पष्ट है कि उक्त कविता में युद्ध का वर्णन नहीं हुआ है । युद्ध स्थिति की यह भाषा नहीं होती । अकविता का यह एक उदाहरण मात्र है । 'यौन उदारता और वितृष्णा के वीभत्स चित्र अकविता में अकवियों और अकवियित्रियों के रचे हुए मिलते हैं ।"[2]

कला के क्षेत्र में अतियथार्थवाद की सर्वाधिक समर्थ स्थापना "स्वतः प्रेरित लेख" (Automatic writing) की अवधारणा है। इस अवधारणा के पीछे फ्रायड का अवचेतन है । "फ्रायड के मनोविश्लेषण, विशेषतः स्वप्न विश्लेषण (Dream analysis) से प्रभावित है जो साहित्यिक आंदोलन दो विश्व युद्धों के बीच में फ्रांस में पनपा वह था सुर्रियलिज्म (Surrealism) अतियथार्थवाद । फ्रायड के उपचेतन मन के सिद्धान्त की भूमिका पर यह अवस्थित है ।"[3] फ्रायड की मान्यता है कि व्यक्ति का आदिम स्वरूप अवचेतन मन में ही देखा जा सकता है । जैसे ही वह चेतन अवस्था में पहुँचता है, विघटित हो जाता है । इसी अवधारणा के आधार पर अतियथार्थवादी कहते हैं कि लेखक को महत्तर यथार्थ, चेतनमन द्वारा कुठाराघात करने से पहले ही पकड़ लेना चाहिये । उनका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि अनुभूति के आदिम स्वरूप के चित्रण में ही कला की सार्थकता निहित हो दूसरी ओर किसी भी विशिष्ट (बुद्धि, नैतिकता और तर्क से प्रभावित) काव्य रूप, चित्र कला या मूर्ति कला के माध्यम से अनुभूति का चित्रांकन उसे विघटित कर देगा । इसके अनुसार अतियथार्थवादी कला का मुख्य उद्देश्य है – "स्वप्न का यथावत चित्रण ।" प्रमुख अति यथार्थवादी लेखक हर्बर्ट रीड ने अपनी अर्द्धसुषुप्तावस्था में रची गयी कविताओं को श्रेष्ठ माना है । इन कविताओं में विशृंखलित भावों, विचारों और स्वप्नों को अभिव्यक्ति मिलती है तथा यह सामान्यतः दुरूह कवितायें हैं । रीड ने दुरूहता को काव्य का महत्त्वपूर्ण गुण माना है ।[1] अति यथार्थवादियों के अनुसार व्यक्ति के चिंतन को किन्हीं बँधी-बँधायी प्रणालियों में ढालना उसे कुंठित कर देता है । इस सम्बन्ध में उनकी स्थापना है–'मुक्त आसंग' (Free Association) 'मुक्त आसंग' का प्रतिपादन इस आशय के साथ किया गया है कि व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिये यह आवश्यक है कि उसे अभिव्यक्ति का स्वच्छन्द क्षेत्र प्रदान किया जाय ।

'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता के अंतर्गत अकविता प्राचीन रोमांटिक,

---

1. अकविता 1–पृ. 14
2. नया काव्य नये मूल्य–ललित शुक्ल, पृ. 248
3. अज्ञेय एक अध्ययन : भोलाभाई पटेल, पृ. 134 से उद्धृत

प्रयोगशील गरज कि अब तक प्रचलित और पठित सभी तरह की कविता के खिलाफ एक नवीन दृष्टिकोण को अपनाकर प्रकाश में आती है। प्रारम्भ संकलन की योजना को स्पष्ट करते हुए कवि धर्मिता के सम्बन्ध में जगदीश चतुर्वेदी ने भी कहा था– 'इसमें वही कवि सम्मिलित किये गये हैं जिनमें आधुनिकता के प्रति सहज आग्रह है और जो अपने कवि धर्म के प्रति सजग तथा सचेत हैं।"[1] कवि धर्म के प्रति वे कैसे सचेत और सजग थे, निम्नलिखित कविताएँ स्पष्ट करती हैं–

"रात का उजड़ा हुआ निश्वास
सो गया है
मैथुनों में रत
भग्न आँखों में उलूकों के।"[2]

"स्त्री कभी नग्न नहीं होती
अपनी त्वचा में ढकी हुई
उजाले में सोती है।"[3]

"भीड़ के स्पर्श बेहूदे लगते हैं
क्योंकि स्पर्शों की भाषा सिर्फ संदर्भों में–
पढ़ी जा सकती है।"[4]

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि पुरुष कवियों के मन में नारी कहीं बहुत गहरे गड़ गयी है। वास्तव में इनकी कविताओं में नारी "एक मानवीय उपस्थिति के रूप में व्यक्त न होकर एक वस्तु," 'चीज' के रूप में प्रकट होती है। स्त्री को मानव-प्राणी न मानकर 'चीज' समझना, जिसके साथ कुछ भी खिलवाड़ करना, विधि सम्मत हो, दकियानूसी भारतीय का रुख है। विद्रोह-मुद्राओं की अंतर्राष्ट्रीय परिक्रमा करने के बाद फिर भारतीय दकियानूसी और मध्यकालीनता में लौटना कवि की तथाकथित आधुनिकता के कुछ गोलमाल को स्पष्ट रेखांकित करता है।"[5] अकविता पर पश्चिम के प्रभाव को श्याम परमार नहीं स्वीकार करते हैं। लेकिन जगदीश चतुर्वेदी ने तो यह स्पष्टत: स्वीकार किया है। "इंग्लैंड के एंग्री यंग मैनों की तरह एक क्षुब्धता आज के हिन्दी कवियों में है। इस अभिनव काव्य संकलन में कदाचित प्रथम बार हिन्दी के क्षुब्ध पीढ़ी के कवि एक स्थान पर संग्रहीत हैं। तीसरे सप्तक तक संग्रहीत कवियों में यह आक्रोश कहीं भी

1. 'प्रारम्भ'–सं० जगदीश चतुर्वेदी – भूमिका
2. वही–पृ. 27
3. वही–पृ. 90
4. वही–पृ. 119
5. फिलहाल–अशोक वाजपेयी, पृ. 64

परिलक्षित नहीं होता।"[1]

निश्चय ही अकविता के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में अति यथार्थवाद प्रवेश करता है। सामाजिक विसंगतियों का विरोध करने के बजाय वैयक्तिक विकृतियों का ही स्थापन किया गया है क्योंकि अकविता में नारी की जो दुर्दशा हुई है वह न तो अकविता से पूर्व देखी जा सकती है न तो बाद में ही।

नारी और पुरुष के सम्बन्धों को लेकर अकवियों द्वारा दी गयी व्याख्याओं से वास्तव में नारी और पुरुष के सम्बन्ध और भी विकृत हुए। अकविता में जिस विद्रोह और विक्षोभ की बात उठायी गयी है वह नारी केन्द्रित ही है। अकविता-वादियों ने विशेषकर जगदीश चतुर्वेदी ने नारी के साथ यायावरी किस्म का सम्बन्ध ही स्थापित किया है। प्रेमिकाओं की घनिष्ठता में जीना इनके लिए संभव नहीं है। प्रतिबद्धता के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है। इनके लिए रोटी, हड़ताल, और राजनीति मोटे विषय हैं जो कविता के योग्य नहीं हैं। सेक्स, घृणा, नदी, पागलखाना, बनमानुस और शैतान पर कविताएँ लिख सकते हैं। इनके जीवन और रचना में एक विसंगति है। अतः अकविता के कवियों के सम्बन्ध में यह कहना उचित ही लगता है—"अकविता तनाव और फ्रस्ट्रेशन की काव्य परिणति है। जिसे मोटी-मोटी तनख्वाह पाने वाले अपने अनुसार ढाल लेना चाहते थे। इनकी इसी प्रवृत्ति ने अकविता के सम्बन्ध में भ्रम फैला दिये हैं।"[2]

अकविता अभियान के अंतर्गत हम कुछ महिलाओं के दर्शन भी करते हैं। जिनमें मोना गुलाटी और मणिका मोहिनी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मोना गुलाटी और जगदीश चतुर्वेदी की भाषा में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। मोना गुलाटी के लिए दर्शन कुंठा के रूप में प्रतीत होता है। शाश्वत मूल्य और सत्य इनके लिए निरर्थक है। एक जगह उन्होंने लिखा है—"बौद्धिक और अबौद्धिक होने का मापदण्डों का स्खलन हो चुका है। सेक्स अश्लीलता का नहीं, वितृष्णा का विषय है। किसी भी संदर्भ में लड़की से नारी या औरत या अनारी को कापालिक बनाने की चेष्टा मुझे तोड़ देती है। मेरी इच्छा में रहते-रहते मेरे पूरे जिस्म पर फफोले हो गये हैं।"[3] उन्होंने इसी भावना को अपनी एक कविता में सम-विष्टित किया है।

> "नरमुण्ड पहने हुए और नाचते हुए और भागते हुए
> अपने कंठ को समूचा निगल जाती हूँ
> और अनजाने छू लेती हूँ विवस्त्र शिवलिंग

---

1. प्रारम्भ—स. जगदीश चतुर्वेदी—भूमिका
2. अकविता (ग्वालियर) जून-अगस्त-1968, पृ. 11
3 कृति परिचय अकवितांक—पृ. 57-58

छाती में होता है विकम्प और प्रकम्पन से
अर्राता है एक रीछ
जंगलों को ढूँढ़ता हुआ।"[1]

मोना गुलाटी की तुलना में मणिका मोहिनी कुछ अलग पहचान रखती हैं। उनके अन्दर की टूटन ही अभिव्यक्ति का कारण है–

"सुबह होने से लेकर दिन डूबने तक
मैं इंतजार करती हूँ रात का
जब हम दोनों एक ही कोने में सिमट कर
एक दूसरे को
कुत्ते की तरह चाटेंगे
विवाह के बाद जिन्दा रहने के लिए
जानवर बनना बहुत जरूरी है।"[2]

निश्चय ही मणिका मोहिणी में जो स्पष्टता है वह अन्य किसी कवयित्री में दुर्लभ है। लेकिन अकविता की अधिकांश रचनाएँ सांस्कृतिक संक्षोभ से ग्रसित हैं। अकविता में नारी खिलौना मात्र है।

निष्कर्षतः स्वातंत्र्योत्तर कविता के अंतर्गत दृष्टिकोण के अभाव में अकविता आंदोलन सेक्स सम्बन्धी चित्रों को ही अंकित करता है। सबसे सम्बन्धी कविताओं में लिजलिजापन और बेबाकी दोनों हैं। कवि के लिए सौन्दर्य और औरत भोग की ही वस्तु है। गिरिजा कुमार माथुर की निम्नलिखित कविता किस तरह प्रेम और रोमान्स की ओर उन्मुख है–

"उन्हीं रेडियम के अकों की लघु छाया पर
दो छाहों का वह चुपचाप मिलन था
उसी रेडियम की हल्की छाया में
चुपके का वह रुका हुआ चुम्बन अंकित था
कमरे की सारी छाहों के हल्के स्वर-सा
पड़ती थी जो एक दूसरे में मिल गुँथ कर
सूनी-सी उस आधी रात।"[3]

अंततः कहने का सारांश यही है कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में अतियथार्थवाद से प्रभावित कविता सामाजिक संकट को पहचानने में असमर्थ है और नारी वर्ग को कुचलने की एक गहरी साजिश है। क्योंकि काम भावना की व्यक्ति

1. कृति परिचय अकवितांक–पृ. 60
2. वही–पृ. 54
3. रेडियम की छाया–पृ. 131

पूरे विश्व के प्राणियों में है लेकिन इसके सम्बन्ध में इन कवियों द्वारा जो चित्र अंकित किये गये हैं वह सभ्य समाज की अवहेलना करते हैं। नारी के प्रति जो परम्परागत रुख है उसे पुनः प्रतिष्ठित किया गया है और यह कहने में भी उन्हें किसी प्रकार की लज्जा का अनुभव नहीं होता है कि नारी केवल पुरुष की वासना की पूर्ति के लिये ही है। काम के सम्बन्ध में लेखक सोचता है–"सबके लिये चाय एक अत्यन्त सहज धर्म है, जिस पर न विचार करना जरूरी है न अधिक सोचना। यह समाज के दैनिक जीवन का अंग है। औरत की देह भी इतनी ही सहज और सुलभ 'कमाडिटी' होनी चाहिए। मिले चाहे वह पत्नी से या दुनिया की किसी भी औरत से।"[1] इसी विचारना से प्रभावित कवि ने काम को अपनी कविता का विषय बना दिया है। उसने चित्रण में सभ्य समाज के सारे नियमों का अतिक्रमण किया है। काम मनुष्य जीवन का एक अंग मात्र है। वही समग्र जीवन नहीं है। ऐसे ही कविता के लिए काम अंग बन सकता है लेकिन काम ही कविता नहीं है। क्योंकि कविता समग्र जीवन का नाम है। वह सब कुछ को लेकर चलती है।

इन युवा कवियों के रचना संसार के विवेचन के संदर्भ में अशोक वाजपेयी ने लिखा है–

"अपने को हर किस्म की दकियानुसी से विद्रोही मानने कहने वाला युवा लेखक दरअसल खुद एक नये किस्म का दकियानूस है-उसकी संवेदना अनुभव के हर नये आघात को सहने रचने का उपकरण नहीं, अनुभव की सीमित और पूर्व निश्चित कोटियों को दुह ाने का यंत्र भर है। इससे इन्कार नहीं कि समकालीन दबावों में जिस पर मानव सम्बन्ध भ्रष्ट और विकृत हो जाते हैं। लेकिन मानव सम्बन्धों की ललक, कोमलता और प्रेम एकदम ओझल हो जाय, कम से कम ऐसी दुर्घटना हमारी आर्थिक सामाजिक स्थिति में नहीं हुई है।"[2] यह सही है कि ये कवि कुछ नया निर्माण करने पर अवश्य बल देते हैं पर अपेक्षित सामग्री के अभाव में वे असफल हो जाते हैं। ये चोट करते हैं, गुस्से से भर जाते हैं भभक उठते हैं, वासना से उत्तेजित हो जाते हैं, दिन-दिन बढ़ रही गरीबी को देखकर खीझ उठते हैं पर इन स्थितियों का कोई सही व सार्थक साक्षात्कार नहीं प्रस्तुत करते हैं कि जिससे पाठक को कोई प्रेरणा या नया निर्माण, सँवरने सुधरने का बल मिल सके। दरअसल इनकी कविता, निर्माण की नहीं विनाश की कविता है। किसी के लिए इनके द्वारा महानगरों की विभीषिका, शराब, नारी और मुक्ति कामना, यौन सम्बन्धों की बहुलता और सभ्यता की ऊब तथा विघटन, व्यस्तता और मशीनी

1. आवेश, 1968–(परेश का लेख : इनडिफेंस आफ ली सेक्स)
2. फिलहाल–पृ. 49

स्वार्थपरता से सम्बन्धित जो चित्र अंकित किये गये हैं, उसे देखकर यह अनुभव होता है कि इन कवियों ने आम आदमी की जिन्दगी में हिस्सा लेना बन्द कर दिया है। इनकी रचनाओं में आम आदमी की समस्याओं का अभाव है। सहज मानवीय अर्थ में चित्रित करने की इनकी प्रवृत्ति नहीं है।

वस्तुत: यथार्थ की पूरी और सही समझ देने वाले परिप्रेक्ष्य का अभाव तथा विचारधारात्मक अनिश्चितता के कारण इनके अधिकांश प्रयास प्रभाव की विपरीत दिशा में चले गये।

स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु कविता और अतियथार्थवाद

दो विश्व युद्धों के संकट के समय के बीच विघटित मानव मूल्य के विरोध में, मनुष्य द्वारा विकसित ज्ञान-विज्ञान का मनुष्य के अस्तित्व के विरोध में ही प्रयोग करने वाले राज्याधिपतियों की प्रतिक्रिया के रूप में जीवन की वास्तविकता के भयावह रूपों की पृष्ठभूमि में फ्रान्स में अति यथार्थवाद का प्रादुर्भाव हुआ था। दादावाद तथा फ्रायड द्वारा प्रतिपादित मनोविश्लेषण सिद्धान्त विशेषकर 'स्वप्न' से सम्बन्धित फ्रायड की धारणा इसका आधार है। उपचेतन (Subconscious) इसका प्रधान तत्त्व है। यह आईनस्टीन के सापेक्ष-सिद्धान्त (Theory of Relativity) से प्रभावित है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान एक प्रमुख साहित्यिक सिद्धान्त की भाँति अतियथार्थवाद विश्व भर में व्याप्त हुआ है। उपचैतन को विश्रृंखल बनाना ही अति यथार्थवादियों का प्रमुख उद्देश्य है। इसे प्राप्त करने के लिये उन्होंने इतिहास और परम्परा को तिरस्कृत किया है। सौंदर्य और नीति से सम्बन्धित प्राचीन मूल्यों का परित्याग किया है और व्यंग्य, आक्षेप, अवहेलना इत्यादियों को साधन बनाकर सुव्यवस्थित व्यवस्था का विरोध किया है। स्वप्न अवस्था को अग्रता प्रदान की गयी है। स्वप्न-सुषुप्तावस्था में जागृत अज्ञात भावनाओं का आविष्कार ही इनके लिये आदर्श बन गया है। भौतिक वास्तविकता पूर्ण वास्तविकता नहीं है। अत: स्वप्नावस्था में प्रवेश कर अतियथार्थवादियों ने सुषुप्त चेतना जगाने का प्रयास किया है। काडवेल ने अतियथार्थवाद का विरोध किया है। और कहा है कि अतियथार्थवाद समकालीन स्थिति और सामाजिक चेतना से परे हो गया है।[1] श्री बुर्रा वेंकट सुब्रह्मण्यम जी ने भी अतियथार्थवाद को प्रगतिशील के रूप में स्वीकार न करके कला के ध्वंसात्मक पक्ष के रूप में ही स्वीकार किया है।[2] अतियथार्थवादियों की पहचान निम्न गुणों के द्वारा की जा सकती है। अतियथार्थवादियों के मुख्य गुण निम्नानुसार हैं–

1. साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी आवश्यकतानुसार उसका

1. Illusion and Reality–Christopher Caudwell, P. 221
2. आधुनिक तेलुगु साहित्यम लो विभिन्न धोरणुलु – पृ. 112

भी प्रयोग करेंगे ।

2. अभिव्यक्तीकरण की दूसरी पद्धति अतियथार्थवाद नहीं है । वह उतना सरल भी नहीं है । कविता एक रहस्य भावना नहीं है । मन को बन्धनों से मुक्त कराने वाली है ।

3. मनुष्य के दोषों को सुधारना अतियथार्थवादियों का काम नहीं है । बल्कि "मनुष्य ने किस तरह धँसती बुनियाद पर घर निर्मित कर लिया है" यह बताना उनका गुण है ।

4. विद्रोह करने में अतियथार्थवादी सिद्धहस्त है । उसके लिए मार्ग जो भी हो अपनायेंगे । कोई असम्भव कार्य नहीं है ।

5. थरथराहट उत्पन्न करने वाला 'सौन्दर्य' ही वास्तव में सौन्दर्य है ।

6. भाव पदार्थ से भी अत्यधिक है ।[1]

तेलुगु साहित्य के इतिहास में श्री. श्री. और श्रीरंगम नारायण बाबू की कुछ रचनाओं में अतियथार्थवाद की प्रवृत्तियाँ लक्षित की जा सकती हैं । श्री. श्री. और श्री रंगम नारायण बाबू के अलावा दिगम्बर कवियों की रचनाओं में भी इन तथ्यों को देख सकते हैं । अतियथार्थवाद के सम्बन्ध में आचार्यों ने जो मत प्रकट किया है संक्षिप्ततः निम्न अनुसार है–

1. सामाजिक नियम उनके लिए निरर्थक लगा है ।
2. समाज में सौंदर्य की जगह उन्हें जुगुप्सा ही मुख्यतः दिखाई देता है ।
3. फ्रायड के काम सम्बन्धी सिद्धान्त (Libido) के प्रति बहुत ही आकर्षित होते दिखाई देते हैं ।
4. सुषुप्तावस्था की अवचेतन की ओर ही उन्मुख होते हैं ।
5. भीभत्स इनका प्रधान रस है ।
6. असंपूर्ण लालसाओं को अपनी रचनाओं में प्रमुखता दी है ।
7. प्रगति विरोधी सिद्धान्त "कला कला के लिए" इनकी प्रेरणा है ।
8. यह एक अराजकतावाद है ।[2]

ये मत निराधार नहीं है । अतियथार्थवादियों की रचनाओं को परखने से यह आरोप प्रमाणित होते हैं । अतियथार्थवादियों ने स्वीकार भी किया है । लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि श्री. श्री. और श्रीरंगमनारायण बाबू की कविताओं में अतियथार्थवाद केवल प्रयोग तक ही सीमित है । सन् 1940 के आस-पास

---

1. आधुनिक तेलुगु साहित्यम लो विभिन्न धोरणुलु–
   – सं० के के. रंगनाथाचार्युलु, पृ. 121-122
2. अधिवास्तविकान्वेषण–शीर्षक नग्नमुनि लेख
   –तेलुगु साहित्यम लो विभिन्न धोरणुलु–पृ. 117

तेलुगु साहित्य में अतियथार्थवाद का प्रवेश हुआ है। पहली बार श्री. श्री. ने अतियथार्थवाद कविता लिखी है जिसका शीर्षक है "माटल मूट" उसके बाद उन्होंने ही एक दूसरी कविता 'महाकवि आश्चर्यम" लिखी। यह दो कविताएँ Automatic Writting (स्वत: चालित) के लिए अच्छे उदाहरण हैं।[1] प्रमुख अतियथार्थवादी कवि डिलान थामस, गयास्काइन, आन्ड्रेबिटन, पाल एडवर्ड आदि की रचनाओं के प्रति आकर्षित हुए हैं। साल्वडर डाली, (Salvador Dali) माक्स एर्नेस्ट, पिकासो जैसे अतियथार्थवादी चित्रकारों से भी प्रभावित हुये हैं। तेलुगु कविता के अन्तर्गत अतियथार्थवादी प्रवृत्तियों का प्रचार करने वाले कवियों में श्री. श्री. और श्रीरंगमनारायण बाबू प्रमुख हैं। अतियथार्थवाद को प्रतिपादित करते हुये श्री रंगमनारायण बाबू ने लिखा है : "यथार्थ को नहीं मानेंगे। स्वप्न ही यथार्थ है। इस दुनिया से कोई काम नहीं है। स्वप्न ही हमारी दुनिया है। धनी और भाषाविद हमारे विरोधी हैं। काव्य गुण अवगुण है। हम सब कवि हैं। चेतना का परित्याग करते हैं। उपचेतना में तैरते हैं। कोई अज्ञान शक्ति हमें प्रेरित कर रही है। कुछ लिखवा रही है। अर्थ अनर्थ है। जो लिखवायेगी वही कविता होगी। यही अतियथार्थवादियों का अभिमत है।"[2] यह तेलुगु साहित्य में अतियथार्थवादियों का आरंभिक दौर है। इस आरंभिक दौर में अतियथार्थवाद से प्रभावित कवियों ने अतियथार्थवाद को लक्ष्य न मानकर एक गुण के रूप में स्वीकार किया है। अतियथार्थवाद को तेलुगु में 'स्वजेलजम्' की संज्ञा दी गयी।[3] लेकिन यह अधिक प्रचलित नहीं हुआ। अत: कविता में केवल प्रयोग वैचित्र्य तक ही सीमित रहे। जैसे श्री. श्री. की निम्न कविता में अतियथार्थवाद की परिभाषा प्रस्तुत की गयी है :-

"जीब्रा को algebra चिन्हों के
लांगकोट पहनाकर
साहित्यिक बीज पाठ कराना
पागलपन नहीं रे भाई वह है Surrealism[4]

उक्त कविता में भिन्न अर्थ वाले दो शब्द प्रयुक्त हैं—जीब्रा और Algebra। इन दो शब्दों में शब्द साम्य है। जीब्रा को आल्जिब्रा चिह्नों के लांगकोट पहनाना

1. अनंतम – श्री. श्री.–पृ. 159
2. रुधिर ज्योति (प्रवर)–श्रीरंगम नारायण बाबू–पृ. 6
3. अनंतम–श्री. श्री–पृ 159
4. जीब्रा को चिह्नाल
   लांगकोटू तोडिगि
   साहित्य पौराहित्यम इस्ते
   वेरिकादु Surrealism रा सोदरा।–खड्ग सृष्टि: श्री. श्री. पृ. 57

अर्थ रहित है। उससे साहित्यिक बीज पाठ कराना कोई सम्बन्ध नहीं रखता है। असंबद्ध, अर्थरहित और शब्द की चमत्कारिता ही अतियथार्थवाद के गुणों के रूप में श्री. श्री. ने प्रतिपादित किया है। श्री. श्री. की ही एक और कविता द्रष्टव्य है–

तुराय कंटे, आ	(कलगी से भी
कुराय कंटे की	रेत से भी
चुराय कंटे–हिमाँ	झींगुर–से भी
शुराय गोप्पवाडु।[1]	हिमांशराय महान है।)

तेलुगु में शब्द साम्य है। इसमें तीन शब्द "तुराय" (कलगी अर्थात् टोपी का कुंदना), अकुराय (रेत) तथा कीचुराय (झींगुर)। हिमाँशुराय व्यक्ति का नाम है। इसमें शब्द की चमत्कारिता के सिवा कोई अर्थ नहीं है। इसका दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि हिमांशुराय एक प्रमुख अभिनेता है, राजाओं के पात्रों का अभिनय करता था और उन्हें श्रेष्ठ और महान ठहराने के लिए शब्द साम्य की दृष्टि से कवि ने उक्त कविता को सृजित किया होगा।[2] फिर भी इससे यह अवगत होता है कि कविता में असंबद्ध अर्थहीन शब्दों का प्रयोग करना अतियथार्थवाद का प्रमुख गुण है। इसके अतिरिक्त अतियथार्थवाद के कुछ अन्य लक्षणों में जुगुप्सा के प्रति मोह, कामेच्छा की अभिव्यक्ति तथा तीव्र भावानुभूति प्रमुख हैं। यह लक्षण श्री. श्री. की अभिसारिकि कडसारि (रंडुआ की आखरी दौर) तथा श्रीरंगमनारायण बाबू की "लेंडोची ऋषुलु (जागो फिर ऋषि), मौन शंखम (मौन शंख), भावम (भावना) चिन्ना जैसी कविताओं में पाये जाते हैं। श्री. श्री. की निम्न कविता द्रष्टव्य है –

"आकाश पर राक्षसी दाँत
कहाँ जा रहे हो रे भाई
दाँत से आवृत लहू की बूँदें
कहाँ जा रहे हो रे भाई

× × ×

जाओ मत, बिगड़ोगे
छाया न देख, हानि होगी तुझे
संकेत ये तेरा श्मशान है
विहग ये विचित्र है
कहाँ जा रहे हो रे भाई

---

1. खड्ग सृष्टि–श्री. श्री. पृ. 53
2. आधुनिकान्ध्र कवित्वमु-संप्रदायमुलु–प्रयोगमुलु
डा. सी. नारायण रेड्डी–पृ. 587

नजरों में सुईयाँ हैं
जा क्यों रहे हो रे भाई
× × ×
मत जाना, मत जाना, मिट जाओगे
मत जाओ, मत जाओ, मर जाओगे
शैलाब से भरा हुआ सरोवर है।"[1]

कविता की कथावस्तु सिफ्फिलिस (सुखरोग) से सम्बन्धित है। सुखरोग से पीड़ित स्त्री के साथ काम तृप्ति के लिए उपक्रम करने वाले पुरुष को रोकते हुए लिखी गयी कविता है। इसे अभिव्यक्त करने के लिए जो शब्दावली और रीति अपनायी गयी है। उसने कविता को अतियथार्थवादी कविता बना दिया है। "आकाश के ऊपर राक्षसी दाँत, दाँत से आवृत लहू की बूँदों, संकेत तेरा श्मशान है, शैलाब से भरा हुआ सरोवर" आदि सब प्रतीकात्मक हैं और स्त्री के गुप्त अंगों से सम्बन्धित हैं। निस्संदेह कविता जुगुप्साजनक है। विकार उत्पन्न करती है।

अतियथार्थवादी विचारों से प्रभावित कवि सर्वत्र भयावह वातावरण ही देखता है। भीभत्स वातावरण में ही वह साँस लेने का अनुभव करता है। प्रकृति में सौन्दर्य न देखकर उसमें भी भयावह स्थिति नजर आती है। आकाश के तारे अतियथार्थवादी कवि के लिए कोई आनन्द प्रदान नहीं करते हैं। बल्कि आनन्द की जगह आतंकित ही करते हैं। जैसे–

आकाशम मीद राकासिकोर
ऐडकय्या पोतावु
कोटचुट्टू नेत्तुटि चुक्कलु
ऐडकय्या पोतावु
× × ×
वेल्लकय्या चेडतावु
नीडचूडकू नीके हानि
संकेतम नी श्मशानम
वितैनदि विहंगम
ऐडकय्या पोतावु
चपुल लोनिवि सूदुलु
ऐंदुकय्या पोतावु
वेल्लकु वेल्लकु चस्तावु
नाचुर्निडिन कोनेरु। — खड़ग सृष्टि–श्री. श्री. – पृ. 67

"कृष्ण सर्प दाँत-सा
श्वेत चेचक फफोले-सा
गगन में हैं तारे।"[1]

अतः प्राकृतिक सौन्दर्य का आस्वादन न करके भयंकर और भीभत्स दृश्यों का दर्शन करना अतियथार्थवादियों का प्रमुख लक्षण है। श्री रंगम नारायण बाबू की 'मौन शंखम' कविता अतियथार्थवादी विचारों से प्रभावित है। इसमें अतियथार्थवादी विचार को स्वीकार करने के बाद श्री. श्री. और उनकी (कवि की) मानसिक स्थिति को व्यंग्यपूर्ण अभिव्यक्त किया है। लेकिन कविता में पूरी तरह से असंबद्ध संदर्भ रहित शब्दों का ही समावेश हुआ है। उदाहरण के लिए—

"काडलीवराय में है 'डी' विटमिन
अंडे में है धातु पुष्टि
काकात है श्वेत : कोयल है श्याम"[2]

'काडलीवराय' (अंग्रेजी शब्द में) में 'डी' है (डी-विटामिन है) दूसरी पंक्ति में 'अण्डे' का जिक्र हुआ है और कहा गया है कि अण्डे शक्ति प्रदान करते हैं। तीसरी पंक्ति में 'काकतुव्व' शब्द प्रयुक्त है जो अंग्रेजी के Cacatoo का तेलुगु विलोम शब्द है। Cacatoo का अर्थ है सफेद तोता और अन्त में कोयल को काला रंग वाला कहा गया है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा अर्थ ही नहीं है। केवल प्रयोग वैचित्र्य के लिए ही इन शब्दों का प्रयोग किया गया है।

अतियथार्थवाद से प्रभावित कवि ने आरंभिक दौर में कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं दिया है। भाषा के प्रयोग पक्ष में कुछ परिवर्तन संभव हुआ है। लेकिन यह उपचेतना से संबद्ध होने के कारण असंबद्ध, अबोधगम्य और अर्थहीन हो गया है। सामाजिक चेतना, जन प्रतिबद्धता न जताकर वैयक्तिक कुंठित भावनाओं का, संत्रस्त मानसिकता का पूरा समावेश किया गया है जो एक तरह से सदृश्य पाठक के मन में जुगुप्सा ही पैदा होता है और सामाजिक जीवन से परे होकर हास्यास्पद प्रतीत होता है।

स्वातंत्र्योत्तर कविता के अन्तर्गत दिगम्बर कवियों के आगमन से पुनः

1. नल्लनि त्राचु कोरलु
   तेल्लनि मसूचिकुंडलु,
   गगनम्मुन चुक्कलु — रुधिर ज्योति — श्रीरंगम नारायण बाबू, पृ. 11
2. "काडलीवरायिल्लो 'डी' विटमिनुंदि
   कोडिगूड्लु धातु पुष्टि
   काकातुव्व तेलुपु : कोयिला नलुपु।"
   —रुधिर ज्योति — श्रीरंगम नारायण बाबू, पृ. 154

अतियथार्थवादी प्रवृत्तियाँ प्रस्फुटित हुई हैं। यह श्री. श्री तथा श्रीरंगम नारायण बाबू की कविताओं में व्यक्त अतियथार्थवादी विचारों से कुछ भिन्न प्रकृति की हैं। इस बार व्यवस्था की यथास्थिति के विरुद्ध एक व्यापक जन आंदोलन निर्मित करने के दावे के साथ स्वातंत्र्योत्तर कविता में प्रवेश करती हैं। अब तक कविता का मूल्यांकन चार ही लक्षणों वस्तु, कवि, कविता तथा पाठक के आधार पर किया जा रहा था।[1] लेकिन उक्त चार लक्षणों के अतिरिक्त 'समय' को भी जोड़कर कविता का मूल्यांकन प्रस्तुत करने का आग्रह किया जाने लगा।[2] इसका कारण स्पष्ट ही है कि बदलते हुए समय और संदर्भ के अनुसार कवि की अनुभूतियों को प्रभावित करने वाली विभिन्न परिस्थितियाँ भी बदलती रहती हैं। निस्संकोच आजादी के बाद भारतीय परिवेश का स्वरूप बदला है। उसके लक्ष्य, उसके कार्यक्रम उसकी पद्धतियाँ बदल गयी हैं। परन्तु बदले हुए परिवेश के अनुकूल जनता की जीवन सरणि नहीं बदली है। अब आमतौर पर यह समझा जा रहा था कि आज का मनुष्य विज्ञान के तर्कों का न केवल प्रयोग ही करता है बल्कि अपनी दैनिक गतिविधियों में इसी के सहारे जिन्दगी भी बिता रहा है। पति-पत्नी, भाई-भाई और माता-पिता आदि सम्बन्धों का संसार मात्र औपचारिक है। केवल कुछ भ्रमों के सहारे सम्बन्धों की आस्थाएँ शेष हैं। ऐसी विकट परिस्थिति में कविता के सनातन भाव और राग का अभाव समाज में देखने को मिलता है। चूँकि कवि सच का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने का दावा करता है। अतः वह मजबूर है कि कविता के बुनियादी तर्कों, बुनावटों और यहाँ तक कि कविता के निषेध की संरचना में ही युग की सही कविता को आविष्कृत करें। दूसरे शब्दों में अतियथार्थवादी कविता कविता के निषेध की कविता है। इसलिए वह राग की, रूह की, प्रेम की, व्यथा की, भाव प्रसार की, मूल्य की, संक्षेप में उन सबकी जो कविता के लिए मसाले का काम करने वाली चैतन्यता की स्थिति है, के निषेध की कविता है। यह आकस्मिक नहीं था। निरन्तर बढ़ती जा रही बेरोजगारी, गरीबी से औसद आदमी भयभीत हो रहा था। अकाल, भूख, सांप्रदायिक दंगे समाज में ताण्डव नृत्य कर रहे थे। हमारी यात्रा विविधता से एकता की ओर न होकर एकता से विविधता की ओर उन्मुख हुई। मूल्यों का विघटन, भ्रष्ट प्रशासन, नेताओं की सिद्धान्त हीनता इत्यादि विषमताओं से मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी प्रभावित हुआ। सन् साठ के आस-पास गहराता हुआ सामाजिक संकट ने संवेदनशील व्यक्ति को बहुत ही प्रभावित किया है। और व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने में मजबूर

1. तेलुगु लो कविता विप्लवाल स्वरूपम–वेल्चेरु नारायण राव, पृ. 113
2. आधुनिक तेलुगु साहित्यम लो विभिन्न धोरणुलु

– सं० के० के० रंगनाथाचार्युलु – पृ. 117

किया है। लेकिन एक सुनिश्चित एवं वैज्ञानिक वैचारिक दृष्टिकोण के अभाव में उनके प्रयत्न अपूर्ण ही रहे। अतियथार्थवाद जैसे अराजकतावाद की शरण में जाने के परिणाम स्वरूप यह हुआ कि कविता के केन्द्र में रही जनता की चिन्ता संकुचित हो गयी। जनता की अक्षमता पर रोष प्रकट करना, खीझ उठना, गाली देना, ध्वंस करना कविता के पर्याय बन गये हैं। इतिहास और परम्परा के प्रति कोई आस्था नहीं है। जैसे–

"नन्नय्या को नरेन्द्र की खोपड़ी में ही
सोने दो
जगाओ मत
गला घोंटकर गड्डे में खींचेगा
प्रबंधांगनाओं की जंघाएँ
ताड़ के कम्भे हैं
छुएँ तो पाँव तोड़ना
कुच अगम पर्वताग्र है
सिर से टकराकर फटा दो
पंडितजी ! रिकार्ड-सा मुँह मत घुमाना
नव सृष्टि को परिहृत नहीं करना
भाव कवि के नपुंसक हावभावों पर सवाल
अभ्युदय कवि अफीम खाकर सो गया
नयागरे के जलप्रपात में
कूदने में असमर्थ हे भाई !
गुडबाई ! सलाम-ऐ-लेकुम
गद्य नहीं है यह
कविता भी कतई नहीं है।"[1]

तथा–

यही है ! यही है !
मानव का अन्तिम दिन
अब नहीं रहा इतिहास नहीं रहा।[2]

इतिहास विरोधी दृष्टिकोण उक्त कविता में पूर्ण सचेत है। अतियथार्थ-

---

1. दिगम्बर कवुलु–पृ. 7
2. इदे यिदे
मानवुनकु चिवरि रोजु
चरित्र चिक लेदु-लेदु — अमृतम कुरिसिन रात्रि–तिलक, पृ. 99

वादी कवि की दृष्टि में इतिहास और परम्परा निरर्थक दस्तावेज है। अतियथार्थवादियों के अनुसार परम्परा के संचित अनुभवों की मनुष्य के लिए कोई उपयोगिता नहीं रह गयी है। इसलिए इतिहास से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न करने का उपक्रम करता है। यह तो सामाजिक नियम के विरुद्ध है। वास्तव में परम्परा से वर्तमान को जोड़कर भविष्य की कल्पना की जाती है। लेकिन अतियथार्थवादी कवि के लिये "इतिहास एक अँधेरा।"[1] यह स्वीकार्य नहीं है। इसे स्वीकार करने का अर्थ होगा यह स्वीकार कर लेना कि वर्तमान मनुष्य एकदम नया हो गया है और अतीत से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

अतियथार्थवादियों का वर्तमान व्यवस्था के प्रति ध्वंसात्मक दृष्टिकोण है। वे व्यवस्था को जड़ों सहित बदलना चाहते हैं। सब कुछ तहस-नहस करने और अराजकता उत्पन्न कर नयी संस्कृति रचने में अग्रसर होते हैं। सत्ता, व्यवस्था और रूढ़ि के प्रति आक्रमण और व्यापक तोड़-फोड़ की प्रवृत्ति अतियथार्थवादी कवियों में लक्षित की जा सकती है। सतही तौर पर यह लगता है कि इनकी बेचैनी व्यवस्था के आमूल परिवर्तन को लेकर है। आक्रामकता, उग्रता और क्रांति की चीख-पुकार से ऐसा लगता है कि भारत की लोक तंत्रात्मक प्रणाली में प्रतीक्षा कर रही जनता की बेचैनी मानो जीवन में ही नहीं कविता में भी टूटने लगी है। इनकी रचनाओं में विद्रोही स्वर का आभास होता है। असंतोष, अतृप्ति की भावनाएँ पूर्ण सचेत हैं। लेकिन इनकी बेचैनी को सही राह पर ले चलने वाली वैचारिक प्रतिबद्धता के अभाव में अव्यवस्थित हो जाती हैं। व्यवस्था को नये सिरे से स्थापित करने की इनकी बेचैनी व्यवस्थित, वैचारिक, सुचिन्तित संघर्ष के अभाव में अर्थहीन साबित होती है। उनका प्रवेश इस प्रकार होता है—

> "मुझे देखकर सभ्यता थरथराती है
> मुझे देखकर सभ्यता डर गयी है
> मुझे देखकर सभ्यता निश्चेष्ट हुई है।"[2]

समाज के लोग इनकी दृष्टि में खटमल, चिपकलियाँ, जोंक पिशाच और निशाचर हैं। यथा—

> "आप सब अँधेरे के डाकू हैं
> आप सब नकाब ओढ़े हुये प्रवंचक हैं
> आप सब ! आप सब

---

1. दिगम्बर कवुलु—पृ. 89
2. नन्नू चूचि नागरिकता गजगण वणिंकिदि
   नन्नू चूचि नागरिकता बेदिरिंदि
   नन्नू चूचि नागरिकता स्तंभिंचिंदि — दिगम्बर कवुलु—पृ. 35

खटमलें हैं रे खटमलें। चिपकलियाँ हैं रे चिपकलियाँ
रक्त चूसने वाली जोंक। पिशाच-निशाचर।"[1]

अतियथार्थवादी कवि समकालीन समाज में सर्वत्र मानवीय मूल्यों का लोप अनुभव करता है। धँसती हुई मानवीयता को देखकर उग्रता भरे शब्दों में आक्रमण करता है। और कहता है—

"मानवता का ध्वंस कर
मनुष्य को माँस-सा काटकर
संतप्त निच्छवासों पर
शुद्ध कपड़े पहन उबालकर
अश्रु-रस में 'शोरबा' बनाकर
खा रहे हम सब।"[2]

समस्त भूगोल राचकुरुप से युक्त है। जैसे—

"भूगोल के पूरे जिस्म पर राचकुरुप
उन्मत्त पक्षी-सा उड़कर
भाषणों के सड़े बीच न बटोरो
हृदय शिथिल न करो
औरों के लिए मंच न बनाओ
स्वकुच संवाहन सन्मान पत्र समर्पित न करो।"[3]

---

1. मीरंता चीकट्लो तिरुगितुन्न गज दोंगलु
मीरंता मुसुगुलो नटिस्तुन्न वंचकुलु
मीरंता ! मीरंता
नल्लुलु रा नल्लुलु ! बल्लुलु रा बल्लुलु
रक्तम पील्चे जलगलु ! पिशाचालु ! निशाचरुलु-दिगम्बर कवुलु-पृ.-37

2, मानवतनु ध्वंसम चेसी
मनिषिनि 'मांसम' ला कोसी
वेडि वेडि निट्टूर्पुलपै
मडिकट्टुक उडुक पेट्टि,
अश्रुरसम लो 'शोरबा' काचुक
आरगिस्तुन्नाम मनमंता-दिगम्बर कवुलु-पृ. 128

3. भूगोलम वंटिनिंडा राचपुल्लु
पिच्चेत्तिन पक्षीला ऐविरि पोंचि
उपन्यासाला पुच्चुगिजलु एरकु
हृदयान्नि शिथिलम चेय्कु
एवडिकी वेदिक निर्मिचकु
स्वकुचमर्दन सन्मान पत्रालु समर्पिचकु-दिगम्बर-कवुलु-पृ. 121

हमारे नेता तपेदिक रोग से पीड़ित चमगीदड़ हैं। अत: उसके नाश की कामना करता है। अतियथार्थवादी कवि ने लिखा है–

"पद-तपेदिक से पीड़ित तानाशाही राजनीतिक चमगीधड़
मारने तक नहीं मरेंगे।"[1]

इस प्रकार अतियथार्थवादी विचारों से प्रभावित कवि की रचनाओं में अराजकता, विचारों का बिखराव और अस्तव्यस्तता ही प्रमुख रूप में दिखाई देती है। तोड़-फोड़, ध्वंस-नाश, तहस-नहस आदि बातें ही उपलब्ध होती हैं जो एक तरह से "साहित्यिक अराजकता" पैदा करती हैं। वैसे तो अतियथार्थवाद दादावाद से प्रभावित है। दादावाद अराजकता वाद को प्रश्रय देता है।[2] और भी गहराई से परखने से यह स्पष्ट होता है कि अतियथार्थवाद "कला कला के लिए सिद्धान्त को ही प्रश्रय देता है।"[3] अपोलिनेर ने दादाइजम, क्यूबिजम और फ्यूचरिजम आदि प्रवृत्तियों को मिलाकर "सर्रियलिज्म" कहा है।[4] यथास्थिति के विरुद्ध निर्माणात्मक संघर्ष करने वालों के विरुद्ध खड़ा हो जाता है।

अतियथार्थवादी विचारधारा से प्रभावित स्वातंत्र्योत्तर कवि वेझिझक अश्लील शब्दों का प्रयोग करता है। अश्लील शब्दों का प्रयोग करते समय कवि के हृदय में लोक मर्यादा के प्रति किंचित आदर भी नहीं है। यथा –

"प्रबन्धांगनाओं की जंघाएँ
तार के खम्भे हैं
× × ×
कुच अगम पर्वताग्र है
सिर से टकराकर फटा दो।"[5]

---

1. पदवीक्षय पीडित नियंतृत्व राजकीय राबंधुलु
   चंपितेगानि चावरु–
   –दिगम्बर कवुलु
2. राजनीतिक परिभाषा में अतियथार्थवादी लेखक अराजकतावादी है। अराजकतावाद में– अतियथार्थवाद भी व्यवहार में अपने आपको विरोध करता है–
   –सोमसुन्दर का लेख– आन्ध्र प्रभा–4 फरवरी 91
3. गहराई से आलोचना करें तो "कला कला के लिए" सिद्धान्त ही–अतिपर्याय-वादी रचना पद्धति की माँ है–सोमसुन्दर का लेख-आन्ध्र प्रभा 4 फरवरी 91 (दैनिक)
4. आधुनिक तेलुगु साहित्यम लो विभिन्न धोरणुलु–पृ. 112
5. प्रबन्धागनाल तोडलु तांडि मोद्दुलु
   कुचमुलु एववरु ऐक्कनि पर्वताग्रमुलु – दिगम्बर कवुलु–पृ. 7

और एक जगह लिखा है :–

"राजत्व सुकुमारी से
राक्षसी रति करने वाले
विनायक विटों का।"[1]
तथा
"प्रेमिका के अगोचर-स्तन सृजन पर
तादात्म्य अनुभव करने वाले कवि कामुकों।"[2]

अतियथार्थवादियों की अनेक रचनाएँ अश्लीलता से आप्लावित हैं। कविताओं के शीर्षक अश्लील शब्दों से आकृत हैं। जैसे–आत्मयोनि, नग्ननृत्य अचानक ठीक दोपहर कपड़े सब उतारकर, पुनः योनि प्रवेशम हिजड़ों के कामनृत्य देख रहा हूँ, जाँघ टूटी पीढ़ी, नग्नता चाहिए, इत्यादि। इस प्रकार की कविताओं को पढ़ने से पाठक के मन में जुगुप्सा और घृणा के सिवाय और कुछ उत्पन्न नहीं होता है।

अतियथार्थवादी विचारधारा से प्रभावित दिगम्बर कवि द्वारा प्रयुक्त अश्लील शब्दों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जीवन की वास्तविकता को उद्घाटित करने लिए अश्लील शब्दों का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। श्री. श्री. जैसे प्रगतिशील कवि ने भी इसका समर्थन किया है।[3] और यह सीधा मार्क्स के भाषा सम्बन्धी विचारों से भी विरुद्ध है।[4] सच तो यह है कि संघर्षकामी चेतना से लैस कवि पुरुष और स्त्री दोनों के रिश्ते को सहज मानवीय अर्थ में चित्रित करते हैं। उनके सम्बन्ध में स्त्री का और स्त्री से सम्बन्धित मानसिक एवं सौंदर्य भावनाओं का विरूपीकरण नहीं होता है। परन्तु अतियथार्थवादी विचारधारा से प्रभावित कवि अधिक ध्वंसात्मक, असंसदीय अनभिजात्य हो जाता है और समाजवादी यथार्थ की पक्षधरता के अभाव में अतियथार्थवादी कवि राजनैतिक एवं नैतिक दृष्टि से अत्यधिक अनास्थावादी, युयुत्सावादी और मूर्तिभंजक बन जाता है।

1. राचरिकम सुकुमारितो
   राक्षस रति सलिपे
   विनायक विटुलक – दिगम्बर कवुलु – पृ. 9
2. कनुपिचनि प्रेयसि वक्षोजाल वापुलपै
   तादात्म्यम पोंदिन कवि कामुकुलनु। दिगम्बर कवुलु – पृ. 10
3. सृजना – 1970 (श्री. श्री. से साक्षात्कार)
4. भाषा ऐसी व्यवहारिक चेतना है जो दूसरे लोगों के लिये भी विद्यमान होती है, चेतना की भाँति भाषा भी आवश्यकता से, दूसरे लोगों के साथ संसर्ग की अनिवार्यता से पैदा होती है। – साहित्य तथा कला – मार्क्स–ऐंगेल्स पृ. 15

तुलनात्मक निष्कर्ष

हिन्दी और तेलुगु भाषाओं में काव्यात्मक संवेदना का संदर्भ परम्पराओं के नकारने के मार्ग में प्रवृत्त हुआ। असामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संकट, समकालीन दबाव, आर्थिक सामाजिक स्थितियाँ, आधुनिकता परिवर्तित सौंदर्य-बोध, जनता की चिन्ता का संकुचन, बुद्धि जीवियों का मानसिक बिखराव, संबन्धों का संसार, मूल्यांकन के गुण, यथास्थिति के विरोध में लक्ष्य निर्माण, महानगरीय वेतन भोगियों की विभीषिकाओं को मानवीय अर्थ देने का प्रयत्न कोई निश्चित अवधारणा का रूप ले सकता था।

भारतीय परिवेश के सारे परिवर्तन कहीं विपरीत दिशा में प्रयाण करते हों तो वैसे समय में मध्यवर्ग अपने रिसे हुए अनुभवों के कारण नकार का मार्ग या कहीं अनिश्चितता का मार्ग या असबद्ध संकुल और अनर्थक चमत्कारों एवं व्यंग्यों का आश्रय लेता हो यह कोई अनुचित नहीं है। यह स्थिति सन् 1940 के बाद हिन्दी और तेलुगु में व्यवहार में आयी थी।

राजनीतिक और नैतिक दृष्टि से मानवीय अर्थ देने के प्रतिपादन में रिश्तों की व्याख्या संघर्षकामी चेतना के अनुकूल विकसित नहीं हो पायी। लोगों की दृष्टि संघर्ष से कटा जाकर तनाव और विक्षोभ के मुखौटे में ढलना सहज है। यह अनास्थावादी स्थिति सांस्कृतिक विक्षोभ का परिणाम हो जाती है। जब अनुभव सीमित हो जाता है पूर्व निश्चित कोटियों में से एक नया दकियानूसीपन उभर आता है। सौंदर्य और औरत के संबंध की पूर्वनिश्चित कोटियों को दुहराने लगे हैं। रोटी, हड़ताल और राजनीति से बहुत दूर कटे होते हैं। घृणा, पागलपन, वन मानुस, शैतान सम्बन्धी परिणितियों में उनका मन बंवर खाता है। वितृष्णा के रूप में उनके मापदंड स्खलित होने लगते हैं। ऐसे समय में सभ्य समाज की अवहेलना का रूप ही उनको प्रिय लगता है।

तेलुगु कविता ने यह साबित किया कि मानवीय मूल्यों के लोप के भी अनुभव ने उन्हें आक्रामक, उग्र एवं क्रान्तिपूर्ण चीख देने की तरफ उन्मुख किया है। तेलुगु कविता ने सनातन के भावों में राग का भाव देखा। समाज ने राग, रूप, प्रेम, व्यथा, भाव प्रसार इत्यादि जो मसालें हैं उनमें मूल्यों के लोप का अनुभव कर चेतना की स्थिति पर समाज को खींच ला दिया है। ऐसे सामाजिक संकट की अवस्था में मूल्यों का विघटन आँखों से देखा जाता है और इसके ऊपर भ्रष्ट प्रशासन, नेताओं की सिद्धान्त हीनता, मध्य वर्गीय बुद्धिजीवियों का आधुनिकता के नाम विविधता की ओर आकर्षण खींचा जाना जैसे परिवर्तन देखकर उनकी चिंता का संकुचन हो जाना भारतीय परिवेश के अर्थहीन होने का संकेत देता है।

हिन्दी और तेलुगु साहित्यिक आंदोलनों में मानसिक सिद्धान्त की भूमिका के अवस्थापन का संदर्भ या जिसने अतियथार्थवाद की तरफ खींच ला दिया है। आधुनिकता के गोल-माल में रेखांकित युवा पीढ़ी क्षुब्ध होकर आक्रोश की तरफ उभड़ जाती है। जीवन की अनुभूतियों का विकट होने का भय उनको नैतिकता और तर्क के प्रभावों से कटा देता है। यह उनकी चेष्टाओं पर सम्बन्ध डालता है। चेष्टाओं और वितृष्णाओं के प्रभावित व्यक्ति समूह चाहे वह मध्यवर्ग के ही क्यों न हों वे लक्ष्यों से कट जाते हैं और गुणों को स्वीकार करते हैं। विरोध ऐसा एक गुण है जिसकी ओर वे आकर्षित होते हैं। तेलुगु कविता ने व्यवस्था के विरोध के गुण को जुगुप्साजनक रूप में बढ़ावा दिया। ध्वंस की सीमा तक उस पक्ष ने सौंदर्य की अवधारणा की खींचतानी की थी। असंपूर्ण लालसाओं के नाम "मुक्त आसंग" का भी समर्थन करने लगे। "सुखरोग" के विषय को उसके भयावह रूप को, आनंद के आतंकित होने के रूप में अनुभव को प्रत्यक्ष कराया है। विरोध के गुण को विकृति और अराजक अवस्था तक खींचने में उनको प्रिय लगता था। प्राकृतिक सौंदर्य के रूप रखने वाली प्रेम चेतना के अंग अंग यथार्थ के अति को उन्होंने अपनी कविता वस्तु की इति बनाई है। उसी रूप में सत्ता, व्यवस्था और रूढ़ि के प्रति भी उन्होंने तोड़-फोड़ की प्रवृत्ति निभायी है। ऐसे मानवीय मूल्यों के लोप का अनुभव उन्होंने समाज के लोगों को खटमलें, चिपकलें, झोंक, पिशाच और निशाचर तथा अँधेरे के डाकुओं के रूप में अपने विचारों को बिखराने में सहयुक्त दिया है। परन्तु उनकी दृष्टि यथास्थिति के विरुद्ध होते-होते निर्माणात्मक संघर्ष से दूर जा पड़ी है जहाँ पर उनकी इच्छाएँ संकुचित होकर भौतिकता का भी विरोध कर जाती हैं। और यहाँ तक कि उनका मार्ग वैयक्तिक विकृतियों का मार्ग हो जाता है। पूर्व एवं परम्परा निश्चित सौंदर्य और नीति, सौंदर्य और नारी जो भारतीय इतिहास में सापेक्षिक अनुभव के रूप में पूर्व निश्चित है उसी मुखौटे में रहकर उसके विकृत रूपों को इतिहास को गुमराह बनाने वाली विक्षुब्धता की जाली में वे स्वयं अपने को फँसा लेते हैं। उसी के ध्वंस में आकर अपने पूर्व परिचित भोग संस्कृति के गुण के विरोध करने की दृष्टि से अपनी चेतना का परित्याग कर जाते हैं और अपने को अवचेतन के अधीन कर लेते हैं तथा अवचेतन के स्वयं चालित बन जाते हैं। व्यक्ति की आदिम चेतना का यह ग्रहण अनेक प्रणालियों और विधियों को अपना लेता है। इसी अवस्था में तेलुगु कविता ने यह बढ़ाया कि ऐसे मनुष्य असंसदीय, अनभिजात्य और ध्वंसात्मक तत्त्व का आश्रय लेता है और उसका मूर्तिभंजक स्वरूप उभरता है। सामाजिक भूमिका के प्रसारों से आँख मूँद लेता है। लोक मर्यादा के खिलाफ पड़ जाने के कारण अश्लील शब्दों का भी प्रयोग कविता में कर लेता है। जीवन की वास्त-

विकता के उद्‌घाटन में मानव को यही एक मात्र रास्ता खुला हुआ है। प्रगतिशील कवियों ने भी इस तर्क का समर्थन किया। फलतः निषेध की यह संरचना के कवि, कविता, वस्तु और पाठक के साथ समय-समय सापेक्ष तत्व को भी कविता मूल्यांकन के लक्ष्यों को घोषित किया था। कविता-कला का यह ध्वंसात्मक पक्ष अपने गुणों में जुगुप्सात्मक एवं वीभत्स रूप रखकर भी एक तरह की सौंदर्य अवधारणा का पक्षधर रहा है। राज्याधिपतियों की प्रतिक्रियाओं को देखकर इतिहास और परम्परा को तिरस्कार करने के लक्ष्य से नैतिकता, नारी और राजनीतिक चेतना एवं सौंदर्य पर विक्षुब्ध समाज की विरोधी शक्तियों का एक इच्छित लोक को सांस्कृतिक रूप देने के प्रयत्न में रचना प्रक्रिया की विसंगति का नया रूप भोग वस्तु के दर्शन के आलोक में प्रतिस्थापित करने का प्रयत्न हुआ। अकविता और दिगम्बर कविता के आंदोलन अपनी निजि निषेध एवं विपरीत दिशाओं के प्रयाण में विचारधारात्मक अनिश्चितता को उद्‌घाटित करते हैं। आज के महानगरीय वेतन भोगियों और आधुनिकता के आकर्षित युवा पीढ़ियों के यह आंदोलन "नयी कमाडटी" का उत्पादन करते हैं। इस नयी सामग्री का अभाव नये निर्माण के रास्ते पर है। उस उत्पादन के आर्थिक, सामाजिक रूप और राजनीतिक रूपों को जब तक मुखरित होने का अवसर नहीं मिलते उसके मानवीय अर्थ देने के प्रयत्नों को कोई रूप या गति नहीं मिल पाती। इन कलाकृतियों की रचना की यह विसंगति ही उनकी कला सीमा बन जाती है और उनकी कला की सार्थकता का प्रश्न विचारधारा की अनिश्चितता में छिपा रहता है। उसके विश्रृंखलित भावों विचारों, स्वप्नों को अभिव्यक्ति मिलने के प्रसंग तक ही उसकी सीमा है, उसका चेतन रूप भी उसकी कला चेतना के विकास के द्वारा ही मुखरित हो सकता है, चूँकि वे चेतना के विरोधी हैं। राजनीति में बुनियादी परिवर्तन लाने में उनकी कला चेतना सफल हो, आर्थिक विषमताओं में पले निम्न और मध्यवर्ग के पिसते हुए अनुभव और उनके जीवन के झकझोरे रूप उनके पारिवारिक या सामाजिक सम्बन्धों को विसंगत अनुभव के रूप में जनता के सामने जब तक नहीं आवेंगे, उनके साँस्कृतिक बिम्ब बनेंगे तब-तक की सेक्स की वितृष्णाएँ नारी के प्रति पुरुष के ध्वंस का रूप ही सामने आयेगा न कि उसके उभार का न ही सामाजिक भूमिका का कोई प्रस्ताव या सहानुभूति का कोई प्रस्ताव सामने आ सकेगा।

अतः हिन्दी और तेलुगु कविता के यह वैचारिक स्वर मूर्ति भंजक स्वरों में कला चेतना का आह्वान करते हैं।

7

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-तेलुगु कविता : रूपवादी एवं कलावादी रुझान

प्रतीकवाद एवं बिम्बवाद का विशेष सन्दर्भ

कवि अपनी भाषा का स्वयं निर्माता होता है। जिसे वह निरंतर साहित्य संघर्ष द्वारा प्राप्त करता है। भाषा की विशिष्टता ही अंततः रचना की विशिष्टता होती है। जो किसी भी रचनाकार के लिये महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि वह स्वयं द्वारा निर्मित भाषा के माध्यम से अपने समय के यथार्थ को रचना में कहाँ तक समेट कर उन्हें सार्थक अभिव्यक्ति दे पाता है। इस सार्थक अभिव्यक्ति को जन-जन तक पहुँचाने के लिये आस-पास की दुनिया से शब्दों प्रतीकों और बिम्बों को चुनता है जिसके माध्यम से समकालीन यथार्थ व संघर्ष को साधारण से साधारण पाठक तक पहुँचाने का प्रयास करता है। अतः वर्ग विभक्त समाज में रचनाकार द्वारा प्रयुक्त शब्द, प्रतीक और बिम्ब पूरी वर्ग चेतना व स्वरूप के साथ प्रकट होते हैं।

इधर सन् 1943 में अज्ञेय ने "तार सप्तक" का संपादन एवं प्रकाशन किया। इसमें उन्होंने सात कवियों को एकत्रित किया है। ये सब "राहों के अन्वेषी" थे। अज्ञेय ने कविता के भीतर "क्रान्ति" उत्पन्न करने के उद्देश्य से तार सप्तक की योजना बनाई थी। उन्होंने यह अनुभव किया था कि शब्द और अर्थ द्वारा व्यक्त किया जाने वाला अनुभव संसार अपनी सपूर्ण भावात्मक तीव्रता के के साथ घिसी पिटी अभिव्यक्ति पद्धति के कारण व्यक्त नहीं हो पाता। वे सभी कर्म की सार्थकता के साथ-साथ अनुभूति के प्रति गहरी इमानदारी की भी तलाश कर रहे थे। इसी क्रम में उन्होंने ऐसे कवियों को परखने का उपक्रम किया है जो उनके विचार और चिंतन प्रक्रिया के अनुकूल रहते हों। तार सप्तक के संकलन में दो बातों पर बल दिया गया है। प्रथम के अन्तर्गत–सहयोग और द्वितीय के अन्तर्गत यह कहा गया है कि संकलित सभी कवि कविता को प्रयोग का विषय मानें।[1] अज्ञेय के नेतृत्व में चलाया गया प्रयोगवादी काव्यांदोलन कालांतर में

1. विस्तार के लिए : तार सप्तक–अज्ञेय की भूमिका

"नयी कविता" के रूप में परिवर्तित हुआ। जिससे प्रगतिशील चेतना को भ्रमित कर देने वाला नकाब हट गया और उसका असली रूप बहिर्गत हुआ। इन कवियों का रचना संसार अनुभव की अद्वितीयता के नाम पर गलत अनुभवों का काल्पनिक जाल बुन रहा था। 'कला और साहित्य को स्वायत्तता का नारा देकर ये कवि समाज की विविध जटिलताओं और व्यवस्था के मूलभूत अन्तर्विरोधों से जनता का ध्यान हटाकर .... ऐसे अजनबी संसार में भटका देने की कोशिश कर रहे थे, ताकि वह सामाजिक संघर्ष के जीवित सन्दर्भ से बिल्कुल कट जाय।"[1]

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता के अन्तर्गत नयी कविता की यह भी प्रवृत्ति रही है कि वह अस्वीकार की मुद्रा में अपने रचना संसार को उजागर करती है। अज्ञेय ने जब यह घोषणा की थी कि "ये उपमान मैले हो गये हैं" तो कवि के अन्तर्मन में यह बात कहीं जरूर छिपी हुई है कि पुराना अस्वीकार्य है। पुराना साँचा ही नहीं बल्कि पुरानी संवेदना भी बहुत पुरानी पड़ चुकी है। दूधनाथसिंह की निम्न कविता से यह बात स्पष्ट हो जाती है :–

"हजारों सालों से सूरज मरा पड़ा है
हजारों सालों से आकाश की छा जत चू रही है।
हजारों सालों से लोग मरे हुए पैदा हो रहे हैं
हजारों सालों से ताजी हवा के इश्तहार सासों में छपे हैं।"[2]

अतः स्पष्ट है कि कविता के कथ्य के साथ-साथ शिल्प के स्तर पर भी यथार्थविरोधी ह्रासोन्मुखी पश्चिमी प्रवृत्तियों को अज्ञेय एण्ड कम्पनी द्वारा अपनाया गया है जिसमें "प्रतीकवाद" और "बिम्बवाद" प्रमुख हैं। यद्यपि प्रतीकों और बिम्बों का प्रयोग हिन्दी कविता के लिए कोई नई बात नहीं है लेकिन नयी कविता के कवियों ने, विशेष कर अज्ञेय ने, विषय की "सूक्ष्मता" तथा "सांकेतिकता" बनाये रखने के लिए जिस तरह इनका प्रयोग किया है वह सीधा पश्चिम में विकसित "प्रतीकवाद" और "बिम्बवाद" से जोड़ता है इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्रतीक और बिम्बों का प्रयोग कवि सभी बराबर करते रहे हैं। लेकिन भिन्न भिन्न संदर्भों में भिन्न-भिन्न अर्थों के साथ। अतः स्वातंत्र्योत्तर कविता में "प्रतीकवाद" एवं "बिम्बवाद" की प्रवृत्तियाँ लक्षित की जा सकती हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता : प्रतीकवाद

सभ्यता के आरंभिक दौर में मनुष्य अपने विचारों, भावनाओं व अनुभवों को चिन्हों के माध्यम से संभवतः व्यक्त करता था। मनुष्य ने इसी प्रणाली को "भाषा" के रूप में विकसित किया होगा। उनकी सारी सभ्यता, सत्ता और

---

1. जनवादी साहित्य के दस वर्ष–पृ. 82
2. फिलहाल–अशोक वाजपेयी–पृ. 43 पर उद्धृत

उपलब्धी प्रतीकों की उपलब्धि है। इन्हीं प्रतीकों ने अतीत के अनुभव द्वारा भविष्य के ज्ञान व दिशा जानने के लिए सम्बल प्रदान किया है। इसीलिए भाषा को शक्ति की संज्ञा दी गयी है। वस्तुत: भाषा का प्रत्येक शब्द प्रतीक मय है। यही कारण है कि मनुष्य जन्तु जगत से पृथक एवं विशिष्ट दिखाई पड़ता है। इस संबन्ध में अज्ञेय का यह वचन उल्लेखनीय है।

"मानव केवल विवेकशील प्राणी-होमो सेपियंस-ही नहीं है। पशु और मानव में इतना ही मौलिक अन्तर है कि मानव प्रतीक स्रष्टा प्राणी है–होमो सिम्बालिकम। मानव प्रतीकों की सृष्टि कर सकता है, यह बात उसे पशु से और भी महत्त्वपूर्ण ढंग से अलग करती है, और यह उसके सारे सांस्कृतिक और प्रतिभा विकास का आरम्भ बिन्दु है। विवेक की प्रतिभा भी प्रतीक सृष्टि की प्रतिभा का सहारा लेकर ही प्रतिफलित होती या हो सकती है। मानवेतर सभी प्राणी, जिन्होंने प्रतीक सृष्टि की यह प्रतिभा नहीं पाई है, एक सीमित जीवन ही जी सकते हैं। उनका जीवन स्थूल जगत की गोचर अनुभूतियों तक ही सीमित रहता है। और वे अनुभूतियाँ भी एक से दूसरे को संप्रेष्य नहीं होतीं, क्योंकि संप्रेषण का कोई परिपक्व साधन उनके पास नहीं है। संकेतों का एक स्थान उनके जगत में है–जैसे झुण्ड के एक पशु का डर संकेत द्वारा पूरे झुण्ड को भयातुर कर दे सकता है–पर भाषा के समकक्ष उनके पास कुछ नहीं है, क्योंकि भाषा का आधार प्रतीक है और उसका आविष्कार या प्रवर्तन पशु जगत में नहीं होता है। भाषा से संप्रेषण का आरम्भ है, उसी से अनुभव के आदान-प्रदान का आरम्भ होता है, ज्ञान का आरम्भ होता है, परम्परा का आरम्भ होता है, विद्या का आरम्भ होता है, विज्ञान का आरम्भ होता है। और विकास की इस सारी शृंखला की पहली कड़ी है प्रतीक।"[1] यह सही है कि मनुष्य सभ्यता के विकास में प्रतीकों का अपना अलग ही महत्त्व है। लेकिन यह भी सही है कि मनुष्य सभ्यता का युगीन यथार्थ से साक्षात्कार करके ही विकास हुआ है न कि उससे विमुख होकर। आधुनिक युग में, प्रतीकों का प्रयोग "वैयक्तिक प्रतिभा व महत्ता" को स्थापित करने के उद्देश्य से और जन सामान्य से अपने को श्रेष्ठ साबित करने के लिए किया जा रहा है। सामयिक यथार्थ से साक्षात्कार करने की बजाय उसकी प्रतिक्रिया के रूप में ही फ्रांस में 'प्रतीकवाद' का प्रादुर्भाव हुआ है। प्रतीकवाद के प्रादुर्भाव के मूल में जैसा कि यह सर्वविदित है, "पारनेशनिज्म (Parnassianism) और 'यथार्थवाद' (Realism) के प्रति प्रतिक्रिया ही है। मालार्मे का यह कथन उसकी पुष्टि करता है–"पारनेशन कवि विषय वस्तु को उसके यथार्थ रूप में ग्रहण करते हैं और उसी रूप में हमारे सामने प्रस्तुत कर देते हैं। इस प्रकार उनमें रहस्य-वृत्ति का अभाव

1. आलबाल-अज्ञेय-पृ. 92-93

रहता है। रहस्य के कारण विषय वस्तु को समझने के प्रयत्न में धीरे-धीरे विश्वास करने का जो सम्मोहक आनन्द हमें प्राप्त होता है उससे हमारा मस्तिष्क वंचित रह जाता है। कविता का आनन्द तभी मिलता है जबकि हमें संतोष हो कि हम उसकी वस्तु का थोड़ा-थोड़ा करके अनुमान लगा रहे हैं परन्तु स्पष्टतया कथन कर देने से कविता का तीन-चौथाई आनन्द नष्ट हो जाता है। हमारी मनस चेतन को वही प्रिय है जो संकेत करता हो, सचेत करता हो।"[1] नतीजन यह हुआ कि फ्रांस में प्रतीकवाद की "विषय-वस्तु केवल अग्राह्य और उलझी हुई न रही वरन् वह अपनी प्रवृत्तियों में अस्वास्थ्य कर, कुत्सित और अनैतिक भी हो गयी। इन्हीं स्वप्निल, अप्राकृतिक, रहस्यात्मक, कृत्रिम 'न्यूरोटिक' एवं अतिशय व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के कारण फ्रेन्च प्रतीकवाद को अवनतशील (Decadent) साहित्य की कोटि में रखा जाता है, यह ठीक भी है।"[2] यही बात नई कविता के लिए भी सार्थक सिद्ध होती है। यह स्मरण रहे कि अज्ञेय के नेतृत्व में प्रगतिवादी कविता की प्रतिक्रिया के रूप में नयी कविता का प्रादुर्भाव हिन्दी साहित्य जगत् में हुआ है। इस कविता के केन्द्र में उन तमाम ह्रासोन्मुखी एवं पतनोन्मुखी पश्चिमी विचारधारा सक्रिय है जो अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद, अतियथार्थवाद, प्रतीकवाद एवं बिम्बवाद आदि नामों से प्रचलित है। प्रतीकवादी विचारधारा से प्रभावित स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता भी शिल्प के स्तर पर अस्वास्थ्य अबोधगम्य, अनैतिक, अविश्वास बनकर सामान्य पाठक तक नहीं पहुँच पाती है। इस सम्बन्ध में शिवदान सिंह का यह कथन द्रष्टव्य है–

"प्रयोगशीलता की ओट में अज्ञेय 'प्रतीकवादी' विचारधारा को साहित्य में प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा करते रहे हैं।' उनकी कविता प्रतीकवादी है। यद्यपि वादों के ऊपर सिद्ध करने के लिए वह अपने को 'प्रयोगशील' किसी मंजिल तक पहुँचे हुए या किसी राह के राही नहीं बल्कि 'राहों के अन्वेषी' ही घोषित करते हैं, जिससे प्रतीकवाद 'प्रयोगशीलता' के छद्म-वेश में तरुण प्रतिभाओं को आकर्षक और ग्राह्य लगे। इसलिए अज्ञेय के हाथ में पड़कर 'प्रयोग' सत्य की अभिव्यक्ति देने या 'जानने' (?) का साधन नहीं रहा, बल्कि उसे खैरवाद कहने का साधन बनता गया है और उनकी देखा-देखी या उनसे प्रभावित होकर प्रतीकवाद की शैली को अपनाने वाले अन्य तरुण तथा प्रगतिशील चेतना के कवियों के लिए भी वह पाठकों तक पहुँचने के मार्ग में एक बाधा बन गया है।"[3]

अत: कवियों ने सौन्दर्य शास्त्र को भौतिक स्थूल दृष्टि से पृथक किया और

1. उद्धृत : हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ : भूमिका–डॉ. रघुवंश–पृ. 96
2. हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ–पृ. 92
3. आलोचना : अंक 2–संपादकीय लेख

यह स्थापित किया है कि कवि दर्शन और सामान्य दर्शन में एक विशिष्ट अन्तर है। लेकिन इस संदर्भ में ध्यान देने की बात यह है कि प्रतीकों के प्रयोग में भी कवियों की वर्ग चेतना व संघर्ष कहीं नष्ट नहीं हुआ है। यदि कुछ हुआ भी तो मात्र इतना कि मुक्तिबोध शमशेर जैसे संघर्षशील कवि जन कवि नहीं बन सके। फिर भी अपनी तमाम रचनाओं में जनता और जनता के संघर्ष का ही इन कवियों ने पक्ष लिया और प्रतिक्रियावादी एवं समाजवादी विरोधी कवियों से अपने को हमेशा पृथक ही करते रहे तथा प्रगतिशील चेतना को जीवंत बनाये रखते हैं। यह बात इन कवियों द्वारा प्रयुक्त विभिन्न प्रतीकों के द्वारा ही स्पष्ट हो जाती है।

जीवन के सभी क्षेत्रों–इतिहास, धर्म, पुराण, समाज, राजनीति और प्रकृति आदि से प्रतीक ग्रहण किये जाते हैं। धर्म, इतिहास और पुराण संस्कृति से सम्बन्धित हैं। अतः स्वातंत्र्योत्तर कविता के कवियों ने मुख्यतः सांस्कृतिक प्राकृतिक एवं यौन सम्बन्धी प्रतीकों को अपनाया है। इन प्रतीकों के प्रयोग में प्रगतिशील कवि अपनी पूर्ण क्रान्ति धर्मी चेतना के साथ प्रकट होते हैं। निम्न उदाहरणों से उक्त कथन की पुष्टि की जाती है।

महाभारत के 'चक्रव्यूह' के प्रसंग पर आधारित प्रतीक योजना स्वातंत्र्योत्तर कविता में पायी जाती है। धर्मवीर भारती, कुँवरनारायण, दुष्यन्तकुमार त्रिलोचन आदि ने इसे आधार बनाकर जिन प्रतीकों को स्पष्ट किया है, वे इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। कुँवरनारायण ने लिखा है–

"कौन कल तक बन सकेगा कवच मेरा ?
युद्ध मेरा मुझे लड़ना
इस महा जीवन सफर में अंत तक कटिबद्ध
सिर्फ मेरे ही लिए यह व्यूह मेरा
मुझे हर आघात सहना
गर्भ निश्चल में नया अभिमन्यु, पैतृक युद्ध।"[1]

इस उदाहरण में 'अभिमन्यु' और 'व्यूह' दो पौराणिक प्रतीक आधुनिक युग के संघर्ष प्रिय व्यक्ति के लिए संदर्भित किये गये हैं। 'व्यूह' अनपेक्षित और कठिन परिस्थितियों का प्रतीक है, और 'अभिमन्यु' संघर्षशील व्यक्ति का प्रतीक अवश्य है लेकिन इन पंक्तियों में निश्चय ही समूहगत संघर्ष का अभाव है। जब कि त्रिलोचन इन्हीं प्रतीकों के माध्यम से सामूहिक संघर्ष व चेतना का उजागर करते हैं। उन्होंने 'चक्रव्यूह' को 'वर्ग संघर्ष' का, अभिमन्यु को संघर्षरत शोषित व लांछित समाज का 'व्यूह विधाता' को पूँजीवादी मनोवृत्ति के रूप में प्रस्तुत किया

1. नयी कविता : कुँवर नारायण की कविता : अंक, पृ. 42

है ।[1] 'व्यूह विधाता' जैसा कि यह स्पष्ट है पातकी और अत्याचारी ही थे जो अभिमन्यु को अपने जाल में फाँसकर अपने पथ के संघर्ष को समाप्त करना चाहते थे ।

निम्न कविता में द्वीप, सरोवर और धारा के प्रतीक देखे जा सकते हैं–

"हम नहीं हैं द्वीप जीवन की नदी के
वरन जीवन से भरे निर्मल सरोवर
हम सरोवर हैं
नहीं हैं धारा ।"[2]

इसमें 'द्वीप', 'सरोवर' और 'धारा' क्रमशः व्यक्तिवादी मानव, सामाजिक मानव और आत्म केन्द्रित व्यक्ति के प्रतीक हैं । स्पष्ट है कि उक्त कविता अज्ञेय की नदी के द्वीप' कविता के विरोध में लिखी गई है । अज्ञेय ने लिखा है–

"किन्तु हम हैं द्वीप ।
हम धारा नहीं हैं
स्थिर समर्पण है हमारा । हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के
किन्तु हम बहते नहीं हैं क्योंकि बहना रेत होना है ।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं ।"[3]

अज्ञेय की कविता व्यक्तित्व की खोज और व्यक्तित्व के विकास की ओर संकेत करती है । और व्यक्तित्व को आकार देती है । जबकि पहली कविता में सरोवर जीवन से भरापूरा है जिसमें व्यक्ति को द्वीप की अपेक्षा सरोवर के व्यक्तित्व वाला बताया गया है । सीमाबद्ध होने पर भी उसमें सिन्धु की गहराई और मेघ की उँचाई है । स्पष्ट है कि पहली कविता के कवि समाज के वंशज होकर व्यक्ति हैं तो दूसरी कविता के कवि व्यक्ति बन कर समाज के हैं ।

स्वातंत्र्योत्तर कविता में यौन प्रतीकों की बहुलता देखी जा सकती है । अधिकांश यौन प्रतीक प्रकृति के विभिन्न उपकरणों से गृहीत हैं । यौन प्रतीकों के प्रयोग के मूल में यद्यपि कई कारण हैं लेकिन मूलतः फ्रायड की विचारधारा ही अधिक सक्रिय है । आदर्श के भय से जैसा कि फ्रायड ने माना था, जो काम भावनाएँ दबी-सी रह जाती हैं । वे अतृप्ति बनकर कुंठा और दमित वासना के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं । अज्ञेय ने तार सप्तक की भूमिका में इसकी पुष्टि भी की है । फ्रायड ने प्रतीक को अचेतन कल्पना की अभिधा से मंडित किया है ।[4]

---

1. काव्यधारा : सं० शिवदान सिंह चौहान : त्रिलोचन की कविता, पृ 96
2. ओ अप्रस्तुत मन : भारत भूषण अग्रवाल–पृ. 91–92
3. हरी घास पर क्षण भर : अज्ञेय–पृ. 65
4. कुछ और कविताएँ : शमशेर–पृ. 47

स्वातंत्र्योत्तर कविता के अन्तर्गत सर्वाधिक यौन प्रतीकों का प्रयोग करने वाले कवियों में अज्ञेय प्रमुख स्थान पाते हैं। उनकी आरम्भिक कृतियों से लेकर "इंद्रधनु रौंदे हुए थे" तक में यौन प्रतीकों का बाहुल्य है। अज्ञेय के अलावा धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार, राजकमल चौधरी और इन्दुजैन की कविताओं में यौन प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। अज्ञेय की 'सावन मेघ', 'जब पपीहे ने पुकारा', 'सागर किनारे', और 'सो रहा है झौंप' जैसी कविताओं में इन प्रतीकों को देखा जा सकता है। कवि की यह कविता उल्लेखनीय है—

"सो·· रहा, है झँप "अँधियाला"
"नदी" की जाँघ पर
डाह से सिहरी हुई यह "चाँदनी"
चोर पैरों से उझक कर
झाँक जाती है।"[1]

इस कविता में अँधियाला' प्रेमी है और 'नदी' प्रेयसी है। प्रेयसी की जाँघ पर अँधियाले प्रेमी का सोना सारे रहस्य को व्यक्त कर देता है। उपनायिका का प्रतीक 'चाँदनी' है जो डाह से सिहरकर चोर की तरह झाँककर चली जाती है। अज्ञेय का "हरी घास पर क्षण भर" कविता संकलन तो यौन प्रतीकों का 'वृत्त चित्र' है। एक और उदाहरण देखिये—

"गीली दूब से मैदुर,
मोड़ पर जिसके नदी का कूल है, जल है,
मोड़ के भीतर-घिरे हो बाँह में ज्यों
"गुच्छ लाल बुरुस" के उत्फुल।"[2]

इन पंक्तियों में 'लाल बुरुस' के गुच्छे आलिंगन व्यापार के प्रतीकार्थ को अपने में आत्मसात किये हुए हैं। वस्तुतः अज्ञेय के प्रतीकों पर फ्रायड, लारेन्स, रिम्बो, बादलेयर, मलार्मे अरि रिल्के आदि का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

यौन प्रतीकों का प्रयोग केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर, धूमिल जैसे प्रगतिशील कवियों की कविताओं में भी देखा जाता है। जैसे—

"सोने के सागर में अहरह
एक नाव है
(नाव वह मेरी है)
सूरज का गोल पाल संध्या के
सागर में अहरह

---

1. हरी घास पर क्षण भर—पृ. 48
2. हरी घास पर क्षण भर—पृ. 27

हो रहा है–
ठहरा है–
पाल वह तुम्हारा है।"[1]

प्रस्तुत कविता में प्रयुक्त 'सोने का सागर', 'एक भाव', 'सूरज का गोला', 'और संध्यसागर' जैसे यौन प्रतीक बड़े सांकेतिक हैं।

केदारनाथ अग्रवाल के प्रकृति चित्रों में उनके भीतर का राग और उनका सौन्दर्य-प्रेमी हृदय छलक पड़ता है। प्रकृति सौन्दर्य में उन्हें नारी सौन्दर्य भी मिल जाता है। नारी के स्पर्श, आलिंगन और चुम्बन का सुख भी। प्रकृति कवि के सामने प्रेयसी के रूप में आती है।

"नदी एक नौजवान ढीठ लड़की है
जो पहाड़ से मदान में आयी है
जिसकी जाँघ खुली
और हंसों से भरी है।"[2]

"नदी कभी कवि को एक नौजवान ढीठ लड़की जाँघ खुली हुई है और जिसने गजब की सुन्दरता पायी है। कभी वह उदास सोची हुई लगती है जिसके ऊपर बादलों का वस्त्र पड़ा है। कवि उसे जगाता नहीं। उसे देखकर दबे-पाँव वापस लौट आता है। कभी वह एक मिलनातुर प्रेमी की भाँति उसे जगा देता है। उसे नाचने को कहता है ताकि उसे आलिंगन में बाँधकर चूम ले।"[3] इन कवियों के संदर्भ में यह स्वीकार करना उचित है कि जनता से सम्पर्क की कमी ही रचनाकार को रूपवाद की ओर ले जाती है, जनता की चित्तवृत्तियों से अपरिचय ही विशिष्ट अनुभूति लोक की रचना करता है। कुछेक अन्य प्रगतिशील कवियों की कविताओं में भी 'जाँघें', 'योनि', जैसे प्रतीकार्थ शब्दों का प्रयोग देखा जा सकता है। लेकिन इनका संदर्भ अलग एवं विशिष्ट है। काम के प्रति आकर्षण में न होकर उस आकर्षण को तोड़ने के प्रयत्न में हुआ है और कवि स्वयं घोषित करता है–

"मेरे पास उत्तेजित होने के लिए
कुछ भी नहीं है
न कोक शास्त्र की किताबें
न युद्ध की बात
न गद्देदार बिस्तर
न टाँगे, न रात

1. कुछ कविताएँ–पृ. 44 (शमशेर)
2. फूल नहीं रंग बोलते हैं
3. समकालीन हिन्दी कविता–विश्वनाथप्रसाद तिवारी, पृ. 69

चाँदनी
कुछ भी नहीं ।"[1]

निष्कर्ष

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में सभ्यता, सत्ता की सारी उपलब्धियों को प्रतीकों की उपलब्धि माना गया है । सन् 1943 से तार सप्तक के सम्पादन के साथ-साथ भावात्मक तीव्रता के अनुभवों को रूप देने के लिए पिटी-पिटाई अभिव्यक्ति पद्धतियों को असफल मानकर अपने कवि कर्म की सार्थकता को इमानदारी का अर्थ देने वाली योजना की तलाश में लगे हुए कवि विचार और चिंतन प्रक्रिया के अनुकूल पड़ने वाले शब्द और अर्थ के नये-नये प्रयोग करने लगे हैं । संवेदना भेद को इन लोगों ने अपनी दृष्टि में रख लिया है । जिस प्रकार कथ्य के क्षेत्र में आने वाले परिवर्तन का आकलन करने का प्रयत्न हमने पिछले अध्याय में किया है, यहाँ पर शिल्प के प्रयोग और उनके संदर्भानुकूल अर्थ विचारणीय हैं ।

मानव प्रतीक सृष्टा है और उसका आविष्कारक भी है । यों तो सामाजिक यथार्थ के साक्षात्कार करने में प्रतीक प्रयोग पहचाना जाता है । किन्तु फ्रांस में उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उसका प्रादुर्भाव हुआ । स्वप्निल, अप्राकृतिक, कृत्रिम, न्यूरोटिक एवं अतिशय व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के कारण साहित्य की अवनति भी प्रतीकवाद के कारण हुई । ऐसी पतनोन्मुखी विचारधाराओं के सक्रिय अनुभव, उनके साहित्य में प्रतिष्ठापन का कारण स्पष्ट हो गया है ।

सौन्दर्य एवं भौतिक स्थूल दृष्टि के अंतर के कारण चेतना के प्रयोक्ता के कवि के दर्शन और दूसरे के सामान्य दर्शन का अन्तर कर लिया जाता है । प्रतीक के प्रयोग के कारण कहीं-कहीं वर्ग चेतना के लेखक की संघर्ष दृष्टि यद्यपि छिप न सकी लेकिन उनके जन कवि बनने में बाधक बनते गये ।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में व्यक्तित्व के विकास को दृष्टि में रखकर प्रतीकों का प्रयोग किया गया है । आदर्श के भय को प्रतीक का रूप मिला था । जीवन सुख की कल्पना के लिए नारी सौन्दर्य एवं यौन प्रतीकों का सहारा लिया था । जनता के सम्पर्क की कमी और जनता की चित्तवृत्तियों का अपरिचय रखने के कारण इनके प्रतीकों को लोक रचना आकर्षण के तिकड़म से दूर करने में विफल रही । इसलिए स्पष्ट होता है कि इनके प्रतीक जनवाद से दूर जा पड़े हैं ।

स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु कविता : प्रतीकवाद

कविता का भौतिक आधार समाज है । भाषा सामाजिक भौतिक उत्पत्ति है जो कविता का माध्यम है । उसका सारतत्त्व समाज में उत्पादक सम्बन्धों से प्रभावित मूल्य ही प्रतीक है । सामाजिक चेतना उसका प्राण है जो कवि की

---

1. संसद से सड़क तक—धूमिल, पृ. 89

कल्पना के माध्यम से प्रकट होती है। वस्तुतः कवि का भौतिक आधार समाज है। प्रकृति से प्रतीकों का चयन या प्रकृति से सम्बन्धित सृजन करने पर भी उसका वस्तु जगत् समाज ही है। जैसा कि यह विदित ही है कि कवि समाज में सबसे अधिक संवेदनशील प्राणी है। आस-पास की दुनिया को निगूढ़ दृष्टि से परखता है। वर्ग समाज के मर्म के कारण साधारण व्यक्ति जिन सामाजिक सम्बन्धों एवं अंतर्विरोधों को नहीं समझ पाता है, कवि भलीभांति जानता है। चेतना व क्षमता के आधार पर सामाजिक सम्बन्धों और मूल्यों को अपनी भाषा और कला रूपों के माध्यम से प्रतिष्ठित करता है। इसी से कवि का वर्ग दृष्टि-कोण स्पष्ट होता है। रचना में प्रतिपादित प्रतीक सामाजिक संघर्ष और सामाजिक अंतर्विरोधों से सम्बन्धित है तो निश्चित रूप से उनमें उत्पीड़क और उत्पीड़ित शक्तियों के बीच के द्वन्द्व का प्रतिनिधित्व रहता है। अन्यथा वैयक्तिक अनुभूतियों से सम्बन्धित प्रतीक पाठक के मन में सामाजिक संघर्ष, सामाजिक अंतर्विरोधों तथा जीवन की वास्तविक समस्याओं के प्रति विमुखता पैदा कर काल्पनिक विश्व की ओर उन्मुख करते हैं। ऐसे प्रतीकों से भले ही पाठक का हृदय रसास्वादन करता हो। साधारणतः कवि अपनी निपुणता का परिचय प्रतीकों के माध्यम से ही देता है। वैसे तो स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता के संदर्भ में प्रतीकवाद, एवं बिम्बवाद के सम्बन्ध में विस्तार से कहा गया है। प्रस्तुत संदर्भ में यह कह कर स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु कविता में प्रतीकवादी एवं बिम्बवादी मूल्य उल्लिखित करेंगे कि जिस प्रकार काव्य शिल्प के अभाव में क्रांतिकारी रचना शुष्क पड़ जाती है उसी प्रकार क्रांतिकारी मूल्यों के अभाव में काव्य-शिल्प भी निरर्थक हो जाता है। अतः दोनों का सृजनात्मक सम्मिलन करना कवि का कर्त्तव्य है।[1]

प्रतीकवाद की प्रवृत्तियाँ तत्त्वतः न ग्रहण कर केवल उसकी चमत्कारिता स्वीकार कर भौतिक वास्तविकता उद्घाटित करने वाले तेलुगु कवियों में आरुद्र शीर्षस्थ कवि हैं। आरुद्र के दो काव्य संकलन 'त्वमेवाहम' और 'सिनीवाली' इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। वास्तव में "आधुनिक विश्व में टी. एस. ईलियट कृत "दि वेस्ट लैंड" का जो स्थान है वही स्थान आधुनिक तेलुगु कविता में 'त्वमेवाहम' का है।"[2] तेलंगाना में जमींदारी प्रथा तथा रजाकारों की तानाशाही के विरुद्ध जनता ने संघर्ष किया था। इसी संघर्ष से प्रभावित होकर आरुद्र ने 'त्वमेवाहम' रचा है।[3] लेकिन तेलंगाना का संघर्ष ही इसकी प्रधान वस्तु नहीं है। वह तो मात्र प्रेरणा स्रोत है। संघर्ष को एक स्रोत के रूप में ग्रहण कर काल-प्रवाह का

1. आन्ध्र प्रभा (दैनिक)–फरवरी 1991 (सोमसुन्दर का लेख)
2. तेलुगु कविता विकासम–पृ. 109
3. त्वमेवाहम–श्री. श्री. की लघु टिप्पणी, पृ. 137

वर्णन किया है। मृत्यु चिरंजीव मानव' से सम्बोधित कर कहती है 'त्वमेवाहम' अर्थात् "तू ही मैं हूँ।" इस प्रकार काल और मृत्यु के अभेद की ओर संकेत किया गया है। समकालीन संकट के प्रति कवि अपना अटूट सम्बन्ध 'त्वमेवाहम' शीर्षक से व्यक्त करता है। श्री. श्री. ने सही लिखा है–"इस दृष्टि से त्वमेवाहम काव्य का प्रधान विषय काल ही है। तेलंगाना तब एक अल्प क्षण बन जाता है।"[1] स्वयं आरुद्र ने अपने प्रतीक विधान की ओर इंगित करते हुए लिखा है–"यह प्रवाह काल का पर्याय है। काल का संकेत है घड़ी हमारा समाज है। घण्टे हैं सम्पन्न व्यक्ति। मिनट हैं मध्यम वर्ग के लोग। सेकेण्ड हैं निम्न वर्ग के जन। छोटा कांटा सम्पन्न लोगों के मनस्तत्व का प्रतीक है। बड़ा कांटा मिडिल क्लास के लोगों के भावों का वैरोमीटर है। सेकेण्ड का काँटा मजदूर किसानों की फिलासफी की माप है। रेत की घड़ी पानी की घड़ी पुरातन समाज के प्रतीक हैं। 'स्टाप वाच' विप्लव को टाइम प्रधान करने वाला साधन है। पेंड्युलम के बारे में क्या कहना है। (वह तो डाँवाडोल स्थिति (What is to be done) का प्रतीक है) यदि इस प्रकार के संकेतों का प्रयोग करें तो बिना कहे पाठकों की समझ में क्या आयेगा।"[2] इसी पद्धति से 'की' क्रांति का प्रेरक तत्त्व है। 'अलारम' समकालीन परिस्थितियों के विस्फोट की चेतावनी है। इस प्रकार काल के प्रति अपनी जिज्ञासा को उन्होंने प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आरुद्र ने गणित और विज्ञानशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों को प्रतीकों के रूप में ग्रहण कर व्यवस्था का वर्ग मूल्य स्पष्ट किया है। निम्न कविता में उन्होंने पैथागरस सिद्धान्त के द्वारा समाजवाद सिद्ध किया है–

"चिन्न चिन्न चीमलू वगैरा
अड्गु भुजम अनुकोंडि
बलवंत मैना सर्पम
गट्टा एट्सेट्।
अड्गु भुजम उत्पत्ति चेसे
आहारम मीद आधार पड्डम वल्ल
लम्बम अवदा मरि ?
ई भुजाल
परस्पर संघर्षणल फलितम
ई भुजाल
कर्णम मीदि चतुरश्रम

1. त्वमेवाहम–श्री. श्री. की लघु टिप्पणी–पृ. 139
2. कवि श्री आरुद्र–डॉ. भीमसेन निर्मल–पृ. 11 से उद्धृत

अवुना ? सरि
ई चुतरश्रपु वैशाल्यम
इजीक्वलटू
रेंडु विभिन्न भुजाल पै
गल चतुरश्राललोनि तमिस्त्रम
थीसिस यांटि थीसिसुल मिश्रम
रेंडु भिन्न पक्ष संज्ञत्र पोराटम
अनगा ओक नूतन अवस्था ।"[1]

इस कविता में सर्प, चींटियाँ प्रतीकात्मक शब्दों के रूप में प्रयुक्त हैं। सर्प बूर्जुआ व्यवस्था है। चींटियाँ श्रमिक मजदूर वर्ग हैं। छोटी-छोटी चींटियाँ आसन्न (Adjacent Side) हैं। आसन्न पर लम्ब (Perpendicular) आधारित है। यह बुर्जुआ व्यवस्था है। मार्क्सवाद के अनुसार इन दोनों के बीच संघर्ष अनिवार्य है। इन दोनों के संघर्ष के परिणामस्वरूप कर्ण (Hypotenuse) के ऊपर उत्पन्न वर्ग फल (Square) ही समाजवादी समाज है। डॉ सी. नारायण रेड्डी ने इसका रेखाचित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है।[2]

पैथागरस सिद्धान्त : $AB^2 + AC^2 = CB^2$
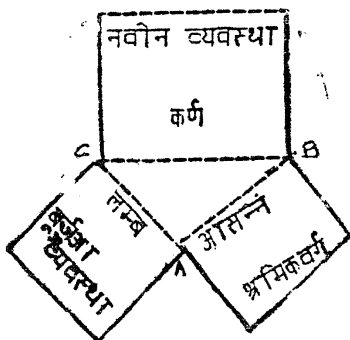
आरुद्र ने इसी संकलन के "वेदनाश कलम" शीर्षक कविता में वृक्ष शास्त्र से सम्बन्धित "पराग सम्पर्क" सिद्धान्त को प्रतीक के रूप में स्वीकार किया है। इसमें कवि ने मानव समाज को "विकसित सुमन" श्रमिक वर्ग को "रक्षक-पत्र" और पूँजीपति वर्ग को "आकर्षण पत्र" आदि प्रतीकों से अभिहित किया है। "आकर्षण-पत्र" कार्य कीड़ों को आकर्षित कर पराग से सुसंपन्न होता है। "आक-

1. त्वमेवाहम–आरुद्र–पृ. 15-16
2. आधुनांध्र कवित्वमु–संप्रदायमुलु–प्रयोगमुलु, पृ. 600

र्षण-पत्र" के समान ही पूँजीपति वर्ग शोषण के लिए अन्य वर्गों को अपनी ओर आकर्षित करके शोषण की प्रक्रिया जारी रखता है। पराग सपर्क के लिए रक्षक पत्र अर्थात् श्रमिक वर्ग उपयोगी सिद्ध नहीं होता क्योंकि वह आकर्षणहीन है। कवि आरुद्र ने अपनी तथास्तु" शीर्षक कविता में रसायन शास्त्र के परिभाषिक शब्द प्रयुक्त कर सामाजिक क्रान्ति को व्यंजित किया है। इसमें लोहा धनिक वर्ग का, तांबा मध्यवर्ग का, जस्ता श्रमिक वर्ग के प्रतीक हैं। ताँबा और जस्ते के मिश्रण से चुम्बक बनता है। इसी मध्यम वर्ग और श्रमिक वर्ग के मिलने से क्रान्ति सफल होगी। इस तरह आरुद्र के प्रतीक चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ हुये लेकिन साधारण पाठक की समझ से बहुत दूर है। आरुद्र के प्रतीकों में बौद्धिकता का अभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। बोधकता के प्राबल्य के कारण उनमें दुरूहता तथा संक्लिष्टता आ गयी और हृदय को सहज रूप से छूने व प्रभावित करने की क्षमता घट गयी है। फिर भी कवि की दृष्टि में शिल्प का महत्त्व कम नहीं है। आरुद्र ने लिखा है "उस कविता की मैं कल्पना नहीं कर सकता जिसकी कोई टेकनीक नहीं हो।"[1]

निराकारों को आकार प्रदान करने वाले तीन तत्त्व–"उत्पत्ति भावना-शक्ति शिल्प को स्वीकार करने वाले प्रमुख प्रगतिशील कवि दाशरथी ने भी इतिहास और परम्परा से अनेक शब्द ग्रहण कर नवीन सदर्भों में अर्थवत्ता के साथ प्रयोग किया है। इस संदर्भ में उनकी "प्रणवम लो त्रिवर्णालु" (प्रणव में त्रिवर्ण) शीर्षक कविता उल्लेखनीय है।" यह आधुनिक युग में सामाजिक चेतना से लैस जन कवि की मानसिक अवस्था को रेखाँकित करती है। राजाओं के शासन काल में जनता यह विश्वास करती थी कि देश का राजा स्वयं देवता है। लेकिन परिवर्तित व्यवस्था के अनुकूल जनता के विश्वास भी बदल गये हैं। इस कविता में कवि ने यह सिद्ध किया है कि व्यवस्था के परिवर्तन के साथ जनता के विश्वास भी परिवर्तित होते हैं और जनता ही सर्व शक्ति सम्पन्न है। इस कविता में नया समाज, नया मानव और नयी चिंतनशीलता विद्यमान है। इस कविता में प्रयुक्त प्रतीक परम्परा से गृहीत हैं। कवि ने आधुनिक भावनाओं के अनुरूप प्रगतिशील स्वर मुखरित कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। आने वाले कौन हैं? कहाँ से आ रहे हैं? क्या स्थिति है? कहाँ जा रहे हैं? इत्यादि प्रश्नों का व्यंग्यपूर्ण समाधान कवि ने प्रस्तुत किया है। अँधेरा जड़ीभूत समाज का प्रतीक है। आने वाले मनुष्य चेतना का प्रतीक हैं सफेद वस्त्र निर्मलता व स्वच्छता का प्रतीक है। "मसाल" प्रगतिशील भावना का प्रतीक है अर्थात् अँधेरे में यात्रा को सफल बनाने में मशाल सहायक सिद्ध होता है। "प्रणव" में तीन रंग

---

1. त्वमेवाहम–(कवि हृदयम)–पृ. 146

हैं कालिमा, सफेदी और लालिमा। इन्हीं का समावेश इस कविता में हुआ है। तत्वजगत् से लौकिक जगत् की ओर उन्मुख है। अँधेरा में धवल वसन पहन कर हाथ में मशाल लिये जो आ रहा है निराशा निस्पृह, दरिद्रता से आवृत्त समाज में निर्मल प्रवृत्ति व्याप्त करने के लिए प्रवर्तमान प्रगतिशील शक्ति है।

क्रान्तिकारी कवि श्री. श्री. ने अपनी रचनाओं में अनेक प्रतीकों को प्रयुक्त किया है। उनकी "नगरम लो वृषभम" कविता प्रतीकों से ओत-प्रोत है। श्री. श्री. ने इस कविता में 'वृषभ" को काँग्रेस सरकार का प्रतीक माना है। काँग्रेस सरकार को जन विरोधी सरकार के रूप में घटित किया है।[1]

डा. सी नारायण रेड्डी मानवतावादी कवि हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में प्रतीकों को प्रतिष्ठित किया है। कहीं-कहीं तो कवि ने स्वयं अपने प्रतीक विधान को स्पष्ट किया है। "अनगनगा ओक राजुगारु" (एक राजा जी) शीर्षक कविता में "वृक्ष" चेतना का प्रतीक है। "मनिषी-चिलुक" (मनुष्य-तोता) शीर्षक कविता में "तोता" परमात्मा का प्रतीक है।[2] इन दो कविताओं के प्रतीकों के सम्बन्ध में स्वयं कवि ने ही स्पष्ट किया है। नारायण रेड्डी की दो कविताएँ "इंकिपोयिन भावि" (सूखा हुआ कुँआ) और "आगामी युगनैमिशारण्यम" पूर्णतः प्रतीकों से आच्छादित है।[3] 'सूखा हुआ कुँआ" भाव दरिद्रता से पीड़ित प्राचीनता का प्रतीक है। "आगामी युगनिमिशारण्यम" में प्रयुक्त "नैमिशम" शब्द शिक्षा-केन्द्र तथा विज्ञान-केन्द्र का प्रतीक है।

प्रमुख तेलुगु कवि श्री गुंटूरु शेषेन्द्र शर्मा का काव्य संकलन "मंड सूर्युडु" (दहकता सूरज) प्रतीकों से अभिभूत है। 'मंडे सूर्युडु" (दहकता सूरज) शीर्षक कविता प्रतीकों से पूर्णतः आवृत्त है। स्वयं कवि ने इस काव्य संकलन के प्राक्कथन में 'दहकता सूरज" को अपना "प्राण-नाड़ी" के रूप में घोषित किया है।[4] इस कविता में "सूरज" "प्रगति" का "स्वेद बिन्दु" श्रमिक वर्ग का, "दिल" आशय का प्रतीक है। "जंगल" व्यवस्था शून्य देशों का प्रतीक है। "चिड़िया" सामान्य प्रजा है। "रातें" विषमताओं की प्रतीक हैं। "तारे" सुखमय जीवन के प्रतीक हैं। "वृक्ष" चेतना का प्रतीक है। वृक्षों से लटके हुए शीर्ष "बुद्धि जीवियों" के प्रतीक हैं। "फूल" सौंदर्य तथा 'तितली' सौंदर्य-तृषा के प्रतीक हैं।

कवि शिवसागर की "मैक्रोस्कोपिक" शीर्षक कविता प्रतीकात्मक है।

---

1. खड्ग सृष्टि – श्री. श्री – पृ. 73
2. मंटलू मानवडू–डॉ. सी. नारायण रेड्डी
3. वही
4. मंडे सूर्युडु – (प्राक्कथन) – गुंटूरु शेषेन्द्र शर्मा,

क्रान्तिकारी भावनाओं से पूर्ण है।[1] इस कविता में कवि ने तीन शब्द-हीरो (Hero) द्रष्टा तथा रिवल्यूशनरी का प्रयोग किया है। पूँजीवादी व्यवस्था में कवि एक "हीरो" है। जमींदारी व्यवस्था में वही "द्रष्टा" है। इन दो व्यवस्थाओं के सामाजिक सम्बन्धों से ऊपर उठकर अब उन्हें "रिवल्यूशनरी" बनता है। जमीदारी व्यवस्था पर प्रहार करने वाला अस्त्र 'फरसा" है। लेकिन वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध "बंदूक" (ट्रिग्गर) चाहिए। इसलिए उसका भी समावेश हुआ है। इस प्रकार क्रान्तिकारी चेतना से लैस कवि अपनी रचनाओं में प्रतीकों का चयन भी "चेतना" के अनुकूल ही करता है।

कवि बैरागी कृत "नूतिलो गोंतकलु" (अंध कूप की आवाजें) में "अर्जुन विषाद योगम" शीर्षक कविता में "अर्जुन" को शंकाग्रस्त आधुनिक युवक के रूप में निगित किया है।[2]

अंततः प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनमें केवल अर्थ की व्यक्ति ही नहीं होती, वरन् भावनाओं का उपबोधक भी होता है। जिन वस्तुओं में तनिक भी निजी विशेषतापूर्ण है तथा जिन पर दीर्घ सांस्कृतिक वासना का प्रभाव पड़ा है, वे शब्द हमारे काव्य में प्रतीक का काम करते हैं। प्रतीकों के स्वरूप में कुछ न कुछ ऐसी व्यंजना रहती है जिससे भावनाओं को विकास के संकेत मिल जाते हैं। स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु कविता के अन्तर्गत प्रयुक्त अधिकांश प्रतीक वर्तमान सामाजिक वर्गदृष्टिकोण स्पष्ट करने में समर्थ हुए हैं। लेकिन जिन कवियों ने प्रतीकों के प्रति अधिक मोह दिखाया है उनकी रचनाएँ सामान्य पाठक की समझ से दूर हो गयी हैं और उन रचनाओं पर दुरूहता, क्लिष्टता अबोधगम्य आदि का अवगुंठन आवृत्त हुआ है। फिर भी तेलुगु कविता में प्रयुक्त प्रतीक भावगर्भित तथा संदेशात्मक हैं। सामाजिक यथार्थों के जीवंत चित्र प्रस्तुत होते हैं। स्मरणीय बात यह है कि जिस यथार्थ के विरुद्ध प्रतीक वाद का पश्चिमी धरती पर उदय हुआ है उसी यथार्थ के उद्घाटन के लिये तेलुगु कवियों ने प्रतीकवाद को अपनाया है।

निष्कर्ष

कविता के माध्यम के रूप में चलने वाले मूल्य परक प्रतीक शिल्प का कार्य करते हैं। यह शिल्प भौतिक वास्तविकता के उद्घाटन में सहायक होते हैं। सामाजिक संघर्ष तथा सामाजिक अंतर्विरोधों से सम्बन्धित हैं। फलतः जीवन की वास्तविक समस्याओं के प्रति उन्मुखता पैदा कर काल्पनिक विषय की तरह उन्मुख करते हैं। क्रान्तिकारी मूल्यों के निर्माण में काव्य शिल्प का अपना महत्त्व है।

1. उद्यमम नेलबालुडु—शिवसागर, पृ. 21
2. नूतिलो गोंतुकलु—बैरागी, पृ. 25

श्री आरुद्र ने राजाकारों की तानाशाही के विरुद्ध जनता के संघर्ष को प्रेरित किया। विस्फोट की चेतावनी देने वाले प्रतीकों का भी प्रयोग किया है। विज्ञान शास्त्र, रसायन शास्त्र, वृक्ष शास्त्र से सम्बन्धित कई प्रतीकों का प्रयोग किया है। व्यवस्था के वर्ग मूल्य (विज्ञान शास्त्र के पारिभाषिक प्रतीकों द्वारा), पराग सम्पर्क के सिद्धान्त के द्वारा वर्ग शोषण की प्रक्रिया प्रकाश में लाते हैं। रसायन शास्त्र के द्वारा सामाजिक क्रान्ति को व्यंजित करते हैं। साधारण पाठक की समझ के दूर पड़ते हुए भी आरुद्र के प्रतीक शिल्प की दृष्टि से महत्त्व रखते हैं।

श्री दाशरथि ने इतिहास और परम्परा के शब्दों को नवीन संदर्भों की दृष्टि से अर्थवत्ता देने के लिए प्रयोग किया है। फलत: सामाजिक चेतना की छिपी मानसिक अवस्था रेखांकित हो जाती है। प्रतीक की परम्परा से जनता के विश्वासों के परिवर्तन को भी सूचित कर देते हैं। तत्त्व जगत् से लौकिक जगत् की ओर उन्मुख एवं प्रवर्तमान प्रगतिशील शक्ति की व्याख्या के लिए प्रतीक सहायक बने हैं।

श्री श्री ने जन विरोधी स्वरों को सरकार के खिलाफ उछालने में प्रतीकों का सहारा लिया है। डॉ. सी. नारायण रेड्डी ने परमात्मा, भाव दरिद्रता से पीड़ित प्राचीनता शिक्षा केन्द्र एवं विज्ञान केन्द्र के अनुभवों को भी प्रदर्शित कराया है।

श्री गुंटूरु शेषेन्द्र शर्मा ने वर्ग एवं व्यवस्थाशून्य देशों की संघर्ष चेतना तथा सौन्दर्य निर्माण के अनुभवों को अपने प्रतीकों के द्वारा निर्मित किया है।

श्री शिवसागर ने प्रत्येक व्यवस्था के निर्मित कवियों और उनके प्रमुख प्रतीकों के चयन का आधार चेतना के अनुकूल होना साबित किया है।

श्री बैरागी ने शंकाग्रस्त आधुनिक जीवन की वास्तविकता को रूप देने के लिए प्रतीकों का प्रयोग किया है। जिस यथार्थ के विरुद्ध प्रतीक का प्रयोजन पश्चिम ने पहचाना वैसे यथार्थ का उद्घाटन प्रयोजन मूलक मान कर स्वीकार किया है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु कविता का प्रतीकवाद सामाजिक मूल्य निर्माण में सौन्दर्य, वास्तविकता और वर्ग विचारों का निर्माता है।

तुलनात्मक निष्कर्ष

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी और तेलुगु कविता के प्रतीक प्रयोग में एक बात स्पष्ट हो जाती है कि उनका प्रयोजन शिल्प परक है, 'वाद' परक नहीं। दोनों क्षेत्रों में प्रतीकवाद परिवर्तन का आकलन करने के लिए उपयोग में लाते हैं।

2. हिन्दी में प्रगतिशील और मनोवैज्ञानिक चेतनावादी दर्शन के अनुकूल

प्रतीकों के प्रयोग के स्पष्ट विचार मिलते हैं। प्रतीकों की लोक रचना में जनवाद से दूर पड़ने वाले प्रतीकों के प्रयोग के कारण उनके प्रतीकों की लोक रचना जीवन सुख की कल्पना व आकर्षण के तिकड़म में बन्दी रही है। प्रतीकों के प्रयोग ने भौतिक दृष्टि वाले लेखक अधिकाधिक जन कवि बनने में बाधा उत्पन्न किया है। कवि कर्म की सार्थकता का प्रश्न प्रतीक के उपयोग का प्रश्न बना हुआ था।

3. तेलुगु के काव्य शिल्प में प्रतीकों का उद्‌घाटन भौतिक वास्तविकता के अनुकूल पड़ा था। इतिहास, परम्परा एवं विज्ञान के अलावा सामाजिक चेतना की छिपी मानसिक अवस्था को रेखांकित करने में तथा विश्वासों के परिवर्तन में और व्यवस्था शून्य देशों की संघर्ष चेतना तथा सौन्दर्य निर्माण के अनुभवों को प्रतीकों के द्वारा निर्मित होना सम्भव है। प्रतीक इस अर्थ में प्रयोजन मूलक रहे हैं। समाज के मूल्य निर्माण में काव्य शिल्प का महत्त्व प्रतीकों के उपयोग की वास्तविकताएँ रही हैं।

प्रतीकों के द्वारा सामाजिक चेतना निर्माण तेलुगु की प्रतीक योजना का लक्ष्य रहा है जबकि हिन्दी की स्वातंत्र्योत्तर कविता में द्विविधा विभक्त विचारधाराएँ पल्लवित हुईं। दोनों कविताओं के प्रयोग की यह वास्तविकताएँ ध्यान देने योग्य रही हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता : बिम्बवाद

कविता का सीधा एवं जीवंत सम्बन्ध भाषा से है। संप्रेषण का सर्वसुलभ माध्यम भाषा ही है। जैसा कि ऊपर कहा गया विशुद्ध कविता या कला के लिए कला जैसी कोई चीज नहीं है और न ही हो सकती है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति की छोटी से छोटी चेतन क्रिया किसी न किसी रूप में समाज से सम्बद्ध ही है। यद्यपि कविता समाज के सबसे संवेदनशील व्यक्ति की चेतन-क्रिया है तो उसकी सामाजिकता असंदिग्ध होगी और उसकी कविता में प्रयुक्त प्रतीक और बिम्ब निश्चय ही कविता की सामाजिकता को ही प्रमाणित करेंगे।

बिम्ब अभिव्यंजना शिल्प का महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक उपादान है जिसकी सर्जना करते समय कवि अनेक प्रकार की शिल्प विधियों को प्रयोग में लाता है। एक साथ अनेक स्तरों, इंद्रियों और मन के कोनों को छूने वाली एक परिस्थिति को व्यक्त करने के लिये बिम्ब निर्माण एक कुशल अभिव्यक्ति पद्धति होती है। इस सम्बन्ध में डॉ. नगेन्द्र कहते हैं–"सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा कवि की दर्शना शक्ति अधिक तीव्र एवं सूक्ष्म होती है और उसका कल्पना क्षेत्र अधिक व्यापक होता है। अतः अनेक प्रकार की अनुभूतियों के संसार उसकी चेतना में संचित रहते हैं। पुनः सर्जना की स्थिति में उन संस्कारों के मानस चित्र अनायास ही उसकी

पश्यन्ती कल्पना में उदबुद्ध होने लगते हैं और वह अपने विवेक के द्वारा अनावश्यक का त्याग तथा आवश्यक का ग्रहण करता हुआ उनका उचित संश्लेषण कर अभीष्ट बिम्बों की रचना कर लेता है।"[1]

यह सही है कि "बिना चित्रों, प्रतीकों, रूपकों और बिम्बों की सहायता के मानव अभिव्यक्ति का अस्तित्व प्रायः असम्भव है, यहाँ तक कि जब हम शुद्ध विचार के क्षेत्र में पहुँच कर गम्भीर तत्त्व दर्शन की चर्चा करते हैं, तब भी हमारे उपचेतन में कहीं न कहीं उन विचारों के वर्ण-चित्र उभरते मिटते रहते हैं। बिम्ब निर्माण की यह प्रक्रिया मानव जीवन में फैली हुई है।"

"प्राचीन काव्य में जो स्थान चरित्र का था–आज की कविता में वही स्थान बिम्ब का है। इसके कई कारण हो सकते हैं, सबसे प्रत्यक्ष कारण यह है कि बिखरी हुई अनुभूतियों और जटिल संवेदना को रूपायित करने के लिए चरित्र निर्माण का माध्यम कथा–कहानी के लिए उपयुक्त हो सकता है, पर काव्य के अपेक्षाकृत सीमित कलात्मक संगठन के भीतर वह सरलता से नहीं आता। नयी कविता पर जो अस्पष्टता और दुरूहता का आरोप लगाया जाता है, उसका सबसे बड़ा कारण उसमें सर्वथा नये अपरिचित सघन बिम्बों की अधिकता, जिसके लिए अधिक संस्कृत और सहृदय वर्ग की आवश्यकता होती है।"[2] स्वातंत्र्योत्तर नयी कविता में बिम्बों का प्रयोग केवल प्रकृति और मनोविज्ञान तक ही सीमित रहने के कारण आधुनिक जीवन की जटिलताएँ और अन्तर्विरोध अव्यक्त ही रहे। सामाजिक यथार्थ से साक्षात्कार न कर अभिव्यक्ति की विशिष्टता के नाम पर जिन शब्दों और बिम्बों का प्रयोग होने लगा है वह जागरूक कवि के लिए निस्सार और निरर्थक प्रतीत होने लगा। बिम्ब विधान टूटने का कारण एवं परिस्थितियों को बतलाते हुए डा. नामवरसिंह ने लिखा है–"छठे दशक के अंत और सातवें दशक के आरम्भ में सामाजिक स्थिति विषम हो उठी कि उसकी चुनौती के सामने बिम्बविधान कविता के लिए अनावश्यक भार प्रतीत होने लगा। जिस प्रकार सन् 36 तक आते-आते स्वयं छायावादी कवियों को भी सुन्दर शब्दों और चित्रों से लदी हुई कविता निस्सार लगने लगी, उसी प्रकार सन् साठ के आस-पास नयी कविता की बिम्ब धर्मिता की निरर्थकता का एहसास होने लगा। समस्या परिस्थितियों के सीधे "साक्षात्कार" की थी; प्रश्न हर चीज को उसके सही नाम से पुकारने का था।"[3] इसका मतलब यह नहीं है कि इस समय के कवियों ने पूर्ण रूप से बिम्बों को तिलांजली दे दी, बल्कि उनके बिम्ब नये एवं

1. काव्य-बिम्ब–डॉ. नगेन्द्र पृ. 47
2. तीसरा सप्तक : केदारनाथ सिंह का वक्तव्य–पृ. 128–129
3. तीसरा सप्तक : केदारनाथ सिंह का वक्तव्य।

संघर्षशील परिवेश तथा संदर्भ लेकर उभरते हैं। सामाजिक यथार्थ की जटिलता को अभिव्यक्त करते हैं। मनुष्य सभ्यता व संस्कृति के विकास के नियमों को प्रगतिशील कवि भली-भाँति जानते हैं। इन्हीं नियमों के अनुकूल अपनी रचना को संदर्भित करते हैं। इस सन्दर्भ में केदारनाथ सिंह का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण लगता है–"मानव संस्कृति के विकास में कवि का योग दो प्रकार से होता है–नवीन परिस्थितियों के तल में अन्तःसलिला की तरह बढ़ती हुई अनुभूत लय से आविष्कार के रूप में, तथा अछूते बिम्बों की कलात्मक योजना के रूप में। पहले में कवि का व्यक्तित्व मुखर होता है, दूसरे में वस्तु जगत् के साथ उसका अधिकाधिक संबन्ध। लय के आविष्कार द्वारा वह मानवीय संवेदना को व्यापक बनाता है और नवीन बिम्बों के परिचय से हमारी ऐन्द्रिय चेतना को बृहत्तर यथार्थ के साथ सम्पृक्त करता है।"

अतः बिम्ब शिल्प का अनिवार्य अंग माना जाता है लेकित स्वातंत्र्योत्तर कविता के सन्दर्भ में वह केवल अलंकरण का माध्यम नहीं है। समकालीन सच्चाइयों को प्रकट करने में बिम्ब पूर्ण चेतना के साथ उभरते हैं। जहाँ नयी कविता में बिम्ब निरर्थक और निस्सार प्रतीत होने लगे वहीं प्रगतिशील कविता में प्रयुक्त बिम्ब जन साधारण के जीवन के यथार्थ को उभारते हैं। एक तरफ नयी कविता के कवि प्रकृति एवं मनोविज्ञान से संबन्धित नवीन बिंबों का प्रयोग करके "विशेष अभिव्यक्ति" या अभिव्यक्ति की विशिष्टता का उद्घाटन कर रहे थे तो दूसरी तरफ प्रगतिशील चेतना से लैस कवि समकालीन संकट व यथार्थ का बोध करा रहे थे। और अपनी कविता की जड़ें यथार्थ में खोज रहे थे। अतः वे घोषित करते हैं :–

"आज के वैविध्यमय, उलझन से भरे, रंग–बिरंगे जीवन को यदि देखना है तो अपने वैयक्तिक क्षेत्र से एक बार तो उड़कर बाहर जाना ही होगा।"[1]

और

"कला का संघर्ष समाज के संघर्षों से कोई अलग की चीज नहीं हो सकती और इतिहास इन संघर्षों का साथ दे रहा है।"[2]

"विचार वस्तु का कविता में खून की तरह दौड़ते रहना कविता को जीवन और शक्ति देता है, और यह तभी संभव है जब हमारी कविता की जड़ें यथार्थ में हों।"[3]

ये उक्तियाँ यह प्रमाणित करती हैं कि कविता कहीं आसमान में

---

1. तार सप्तक : मुक्तिबोध का वक्तव्य।
2. दूसरा सप्तक : शमशेर का वक्तव्य।
3. तीसरा सप्तक : रघुवीर सहाय का वक्तव्य।

नहीं अटकी हुई है बल्कि उसके पैर पूरी तरह से धरती को छूते हैं। कविता में प्रयुक्त बिंब इत्यादि भी उसी धरती से गृहीत हैं।

वैसे तो बिंबों के आधारभूत विशेषताओं के कारण उन्हें कई वर्गों में विभक्त किया जाता है लेकिन यहाँ उसका वर्गीकरण प्रस्तुत करना न तो उद्देश्य है न काम्य। यहाँ केवल इतना कहने का मात्र प्रयास किया जा रहा है कि रूप-वादी-कलावादी विचारधाराओं से प्रभावित कवि का बिंब प्रयोग किस तरह मार्क्सीय चिंतनशीलता से प्रभावित कवि के बिंब प्रयोगों से भिन्न रहता है। और समकालीन संकट व सच्चाइयों को पहचानने में अक्षम है। स्वातंत्र्योत्तर कविता में प्रयुक्त विभिन्न वस्तु, भाव एवं अलंकृत बिंबों के आधार पर इसे स्पष्ट किया जा सकता है।

प्रगतिशील चेतना के बिम्ब

वस्तु बिंब यथार्थ की रेखाओं के आधार पर खड़े किये जाते हैं। स्वातं-त्र्योत्तर परिवेश में प्रगतिशील कवि जीवन का स्पर्श करते हुए और समाज, संस्कृति एवं युग जीवन को अपनी कल्पना में समेटते हुए यथार्थ के यथातथ्य बिंब उभारते हैं। मुक्तिबोध की कविताओं में जहाँ एक ओर यथार्थ चित्रण में विराट बिंबों की सृष्टि हुई है वहाँ दूसरी ओर वस्तुवर्गीय बिंबों का सफल प्रयोग भी हुआ है। यथा :—

> "गठरी है सिर पर
> कन्धे पर बालक,
> फटे हुए अंगोछे से बँधी हुई
> बच्ची है कसी हुई पीठ पर
> ×   ×   ×
> जिसे लिये हुये मैं
> देख रहा जमाने की गयी परिपाटियाँ
> चम्बल की घाटियाँ।"[1]

उक्त कविता में जो बिंब खड़ा किया गया है वह सहज और अनलंकृत है और पूरे यथार्थ का परिचय देता है। कविता में चम्बल की घाटियों में डाकुओं की लूट-पाट के भय से भागते हुए एक व्यक्ति का सजीव चित्र अंकित किया गया है। अनेक भागते हुये लोगों के बीच एक व्यक्ति, जिसके सिर पर गठरी है, कंधे पर बालक है, और फटे हुये अंगोंछे से पीठ पर छोटी बच्ची कसी हुई है, का यह चित्रण अत्यंत प्रभावशाली है। एक और उदाहरण

> "खून भरे बालों में उलझा है चेहरा,
> भौंहों के बीच में गोली का सूराख,

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है—'चम्बल की घाटियाँ—पृ. 246

खून का परदा गालों पर फैला,
होंठों पर सूखी है कत्थई धारा,
फूटा है चश्मा, नाक है सीधी,
ओफ्फों ! एकांत प्रिय यह मेरा
परिचित व्यक्ति है, वही ।"[1]

मुक्तिबोध की यह पंक्तियाँ जैसे ही पढ़ी जाती हैं वैसे ही आँखों में तस्वीर उतर आती है। मुक्तिबोध का यह बिंब बेमिसाल है। खून भरे बालों में उलझा हुआ चेहरा जिस पर सर्वत्र खून फैला हुआ है और गालों पर फैलकर उसी खून की एक कत्थई धारा होंठों पर आकर सूख गयी है। मुक्तिबोध का यह एक अत्यंत सफल बिम्ब है। वास्तव में मुक्तिबोध की कलम में बिम्ब प्रयोग की अपूर्व क्षमता है। उनकी प्रत्येक कविता में जीवन के विभिन्न पक्षों को व्यक्त करने वाले सशक्त बिंब पाये जाते हैं। उनका प्रत्येक वर्णन शक्ति संपन्न, अर्थपूर्ण बिंबात्मक होता है। कगारों की कटानों पर सावधानी से सरक कर बैठते हुये व्यक्ति बिंब पूरी की पूरी गतिविधि का यथार्थ रूप प्रस्तुत करता है। जैसे–

"कगारों-कटानों पर सावधान सरक कर
झरबेरी-झुरमुट के पास थक बैठता कि
देखता हूँ
झुरमुट में हलचल काँपती
कोई साँप पहाड़ी से
निकलकर भागता है लहरीली गति से,
मानो मेरी कविता की कोई पाँत
मुझसे ही भयभीत
भाग जाना चाहती है।"[2]

झरबेरी के झुरमुट के निकट थक कर बैठने के पश्चात् साँप के भागने का बिंब सामने आता है। कविता में मुक्तिबोध ने साँप के भागने की क्रिया को 'लहरीली गति' कहा जो अत्यंत प्रभावशाली है। शमशेर ने भी अपनी अनेक कविताओं में सहज और अनलंकृत बिंब खड़ा किया है। शमशेर में संक्षिप्तता और शब्दों का जो कसाव है वह बिंबों की सफलता का ही कारण है। उदाहरण के लिये उनकी 'न पलटना उधर' शीर्षक कविता द्रष्टव्य है–

"न पलटना उधर
कि जिधर ऊषा के जल में

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है–अँधेरे में–पृ. 299
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है–पृ. 242

सूर्य का स्तंभ हिल रहा है
न उधर नहाना प्रिये ।"[1]

"ऊषा के जल में सूर्य का स्तम्भ हिल रहा है" एक सार्थक प्रयोग है। केदारनाथ सिंह की निम्न कविता देखिए –

"दूर-दूर से –
हल्के-हल्के धानों के रुमाल हिलाए
बाँसों में सीटियाँ बजाये
गलियारों में हाँक लगाये,
मन पर बाहों पर, कन्धों पर
हर सिंगार की डाल झुकाए ।"[2]

केदार जी की पंक्तियाँ "बाँसों की सीटियाँ" और "गलियारों में हाँक लगाये" उस बिम्ब का संयोजन करती हैं जो सड़क के किनारे सिर हिलाते खेतों के चित्र को और अधिक सजीव कर देती हैं। अतः यह स्पष्ट है कि प्रगतिशील कविता में प्रयुक्त बिम्ब सामाजिक समस्याओं और जीवन के यथार्थ को उजागर करते हैं। हाँ, यह सही है कि सन् साठ के बाद की प्रगतिशील कविता का बिम्ब विधान कुछ उग्र सीमा तक पहुँच जाता है। इसे युग की देन ही समझना चाहिए। समकालीन यथार्थ का संकट सन् साठ के बाद और भी तीव्र होता गया है। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में कांग्रेस की घोर विफलताएँ विकृत रूप धारण करती हैं। इन्हीं चीजों को आधार बनाकर इस समय के युवा कवियों ने कवितायें लिखी हैं। अपनी पूर्व प्रचलित काव्य बिम्बों की जगह नये एवं ताजे बिम्बों को इन कवियों ने प्रतिस्थापित किया, जो समूचे समाज को परिभाषित करते हैं। इनके नये बिम्ब विधा नये सदर्भ में हैं। वर्तमान शोषण व्यवस्था और जनता के संघर्ष को दिखाने में बहुत सक्षम हैं। धूमिल की कविता में समाये बिम्ब शोषणतन्त्र के यथार्थ रूप को प्रस्तुत करते हैं और उसकी जगह नये समाज की कल्पना करते हैं। देखिये –

"तो आइये एक निर्णय लें
हम दोनों मिलकर
अपने जानने और अपने नकारने का
एक संयुक्त मोर्चा बनायें
आज की भूख से भूख के अगले-
पड़ाव तक लिख दें

1. कुछ कविताएँ व कुछ और कविताएँ–पृ. 125
2. तीसरा सप्तक–पृ. 143 - (शारद प्रात)

यह रास्ता जनतन्त्र को जाता है
और इस तरह
धुन्ना कविताओं
चुन्ना राजनीति
और मुन्ना विद्रोह को
ठेंगा दिखायें।"[1]

और घास की नोक पर अटकी हुई ओस की एक बूँद का बिम्ब राजनीतिक चेतना को ही उद्घाटित करता है। जैसे—

"जहाँ घास की नोक पर
थरथराती हुए ओस की एक बूँद
झड़ पड़ने के लिए
तुम्हारी सहमति का इन्तजार
कर रही है।"[2]

मनोविज्ञान चेतना के बिम्ब

इसके विपरीत नयी कविता के कवि बिंबों का प्रयोग अलग परिवेश में करते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उनकी बिंबगत नवीनता के पीछे अंग्रेजी के बिंबवादी कवियों इलियट, एजरा पाउण्ड, लारेन्स तथा ह्यूम आदि के प्रभाव ही वर्तमान हैं। नयी कविता में बिंबों की सृष्टि जीवन के विभिन्न व्यापारों से हुई है अवश्य। लेकिन प्रकृति और मनोविज्ञान से ही अधिक बिंब गृहीत हैं। अज्ञेय की यह कविता दृष्टव्य है—

"उड़ गयी चिड़िया
काँपी, फिर
थिर
हो गयी पत्ती।"[3]

चिड़िया पेड़ की शाखा पर बैठी है और उड़ जाती है। उसके उड़ते ही शाख की पत्ती काँपती है, हिलती है और क्षण भर हिलती रहती है, किन्तु थोड़ी देर में स्थिर हो जाती है। यह एक प्रभावशाली बिम्ब है। अलंकृत बिम्बों के क्षेत्र में अज्ञेय का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में वे कल्पना के धनी हैं और शैली के विधायक हैं। 'पूनो की साँझ' शीर्षक कविता में कवि ने अलंकृति

---

1. सुदामा पाण्डेय का प्रजातन्त्र–पृ. 34
2. संसद से सड़क तक–पृ. 13
3. अरी ओ करुणा प्रभामय–पृ. 78

का सहारा लेकर बिंब को उभारा है–

"पति-सेवा रत साँझ
उचकता देख पराया चाँद
लला कर ओट हो गयी।"[1]

सूर्य पति की सेवा में लगी हुई थी कि रात आ गयी और आकाश में चाँद दिखाई देने लगा जो रात का स्वामी था, पर पुरुष था। संध्या ने ज्यों ही उसे उचकते हुए देखा था त्यों ही बेचारी लज्जा के मारे गड़ गयी और छिप गयी। सारांश यह है कि पति सेवा में निरत स्त्री यदि अचानक किसी पर पुरुष को देखती है तो उसे लज्जा का अनुभव होता है। उस लज्जा के कारण स्त्री के कपोलों पर जो 'ललाई' चिरक जाती है उसे कवि ने उक्त कविता में बिंबित किया है। कुँवरनारायण की यह कविता उल्लेखनीय है–

"चाँद कट पतंग-सा
दूर उस झुटमुट के
पीछे गिरता जाता
किलकारी भर-भर खग
दौड़ दौड़ अम्बर में
किरण डोर लूट रहें।"[2]

प्रस्तुत कविता में कवि ने प्रकृति वर्णन के माध्यम से श्रेष्ठ एवं सशक्त बिंब खड़ा किया है। प्रातः कालीन समय में रात भर रोशनी प्रदान करने वाला चाँद फीका पड़ रहा है अर्थात् अस्तोन्मुख है। यह दृश्य कटा हुआ पतंग की भाँति दिखाई देता है। पतंग जब कट कर गिर पड़ती है तो बच्चे शोर मचाते हुए उसे लूटने के लिए दौड़ लगाते हैं। इसी प्रकार प्रातः कालीन किरणें चाँद रूपी कटी पतंग को लूटने के लिए दौड़ लगा रही हैं। प्रातः वेला में पक्षियों का कलरव बच्चों के कलरव जैसा उन्होंने आगे लिखा है–

"मैला तम-चीर फाड़
स्वर्ण ज्योति मचल रही,
डाह भरी रजनी के
आभूषण कुचल रही,
फेंक रही इधर-उधर
लत्ते-सा अंधकार।"[3]

---

1. अरी ओ करुणा प्रभामय–पृ.69
2. तीसरा सप्तक–पृ. 171
3. वही

इस कविता में बिंब को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–"भोर होने को है अत: स्वर्णिम ज्योति अंधकार को चीरकर बाहर आने को मचल रही है। इस कार्य को देखकर उसके सौभाग्य से ईर्ष्या भाव रखने वाली रजनी अपना आधिपत्य जाता देख अंधकार के वस्त्रों को फाड़ फाड़ कर फेंक रही है। इस बिंब में विशेषता यह है कि ये दोनों (स्वर्ण ज्योति और रजनी) नायिकाएँ परस्पर एक दूसरे की सपत्नी नहीं हैं, अपितु अपने-अपने स्वामी की चहेती हैं तथा उस पर गौरव भी करती हैं। यहाँ एक का अर्थात् रजनी का सौभाग्य समाप्त हो रहा है और दूसरी का सौभाग्य उत्थान की स्थिति में है। अत: पहली यदि अपने नक्षत्र आदि आभूषणों को नोंच-नोंच कर फेंके तो उचित ही है और दूसरी अपने सौभाग्य पर इठलाती मचले तो उसकी मस्ती और शोखी भी उचित ही है।

धर्मवीर भारती ने कनुप्रिया के शरीर की स्थिति से अवगत कराने के उद्देश्य से श्रृंखला बद्ध अलंकृत बिंबों का प्रयोग किया है, सार्थक बन पड़े हैं–

"बुझी हुई राख, टूटे हुए गीत, डूबे हुए चाँद
रीते हुए पात्र, बीते हुए क्षण-सा
मेरा यह जिस्म
कल तक जो जादू था, सूरज था, वेग था
तुम्हारे आश्लेष में
आज यह जूड़े से गिरे हुए वेले-सा
दुगुना सुनसान है।"[1]

अत: अलंकृत बिंबों का आधार कलात्मक सौन्दर्य होता है।

भाव बिंब चित्र के दृश्य को उतना स्पष्ट नहीं करते जितना कि भाव पक्ष को। अपनी गठन व गुणों के आधार पर भाव बिंब एक प्रकार से अस्पष्ट अनुभूति या संवेदना प्रधान होता है। अज्ञेय ने अपनी कविता में भावों के रूप को अभिव्यक्ति देने में विविधता दिखाई है। सादृश्य विधान के लिए एकत्रित हुए अप्रस्तुत प्राय: अमूर्त हैं। प्रथम दो पंक्तियों को पढ़ते ही जो बिम्ब बनता है वह तीसरी पंक्ति तक पहुँचते-पहुँचते अनुभूति के आवेग में पिघल कर घुल सा गया है। देखिये अज्ञेय की यह कविता –

"पार्श्वगिरि का नम्र-चीड़ों में
उगर चढ़ती उमंगों-सी
बिछा पैरों में नदी, ज्यों दर्द की रेखा
विहग-शिशु मौन नीड़ों में
मैंने आँख भर देखा।"[2]

1. कनुप्रिया–पृ. 61
2. इन्द्र धनु रौंदे हुए–पृ. 29

स्पष्ट है कि बिम्ब का दृश्य पक्ष अस्पष्ट व धुंधला है परन्तु अनुभूति का पक्ष बड़ा प्रभावशाली है। अप्रस्तुत अमूर्त होने की वजह से अनुभूति मर्म को छूती है। धर्मवीर भारती ने आकर्षण की भाव दशा की अभिव्यक्ति के लिये उस 'अलि' के बिम्ब को खड़ा किया है जो पुष्प के प्रति द्विविधापूर्ण आसक्ति के कारण उद्विग्न है। उन्होंने लिखा है–

"... और मेरा मन
कभी उस फूल के अन्दर कभी बाहर
भटकता है
उस भ्रमर-सा
फूल ने जिसको न रखा कैद
लेकिन मुक्त भी छोड़ा नहीं है।"[1]

स्वातंत्र्योत्तर कविता में विशेषकर नयी कविता के कवियों की कविताओं में यौन व्यापार प्रधान बिम्बों की बहुलता देखी जा सकती है। अज्ञेय, भारती, गिरिजाकुमार और कुँवरनारायण जैसे कवियों की कविताओं में यौन व्यापार प्रधान बिम्ब विस्तार से मिलते हैं। स्त्री और पुरुष के यौन व्यापारों के संकेत देने वाले इनके बिम्ब दृश्यात्मक होते हुए भी रतिभाव-युक्त हैं। अज्ञेय के काव्य में यौन प्रधान बिम्ब विचार से विस्तार से पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए देखिए–

1. "सो रहा है झोंप अँधियाला
   नदी की जाँघ पर
   डाह से सिहरी हुई यह चाँदनी
   चोर पैरों से उचक कर
   झाँक जाती है।"[2]
2. "दो पंखुरियाँ
   झरी लाल गुलाब की तकती पियासी
   पिया से ऊपर झुके उस फूल को
   ओठ ज्यों ओठों तले।"[3]
3. "कबरी में खोंस फूल
   गुड़हल का सुलगे अंगार-सा
   साड़ी लाल घाटे

---

1. सात गीत वर्ष–धर्मवीर भारती, पृ. 113
2. हरी घास पर क्षण भर–पृ. 48
3. वही–पृ. 26

ज्वाल माल डाले
मूर्ति आबनूस काठ की
सेंहुड के सामने कटीली खड़ी
बाला मलावार की ।"[1]

इन उद्धरणों में यौन भाव स्पष्ट है। अज्ञेय की अनेक कविताओं में विशेष कर सावन मेघ, सागर किनारे शीर्षक कविताओं में यौन व्यापार प्रधान बिम्ब स्पष्ट ही रूपायित हैं।

निष्कर्षतः प्रगतिलील कविता की तुलना में नयी कविता अनेक अंतर्विरोधों से ग्रस्त थी। कथ्य के और शिल्प के स्तर पर वह अत्यन्त निस्सार और अर्थहीन जान पड़ती थी। पतनोन्मुखी पश्चिमी विचारधाओं को भारतीय धरती पर प्रतिष्ठापित करने की जो कोशिश की गयी थी वह अधिक समय तक रह नहीं सका। प्रगतिशील कवि ने उन तमाम कोशिशों को चकनाचूर कर दिया है जो प्रगतिशील चेतना के विरुद्ध नये-नये रूप आन्दोलन चलाये गये थे। लेकिन इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि "सामाजिक प्रतिबद्धता में कलावाद और बिम्बवाद के आकर्षण ने कविता की निर्णयात्मकता, विधेयात्मकता और ठोस होने की विकास यात्रा को स्थगित सा किया है।"[2] अंततः प्रगतिशील कवि "कोई चीज कहाँ है और कैसे है ? का सही बोध"[3] कराने में ही अपनी रचना का धर्म मानते हैं।

निष्कर्ष

कविता की सामाजिकता को प्रामाणिक करने के लिए इंद्रियों, मन के कोणों को छूने वाली परिस्थिति या मनः स्थिति को व्यक्त करने की कुशल अभिव्यक्ति पद्धति के द्वारा सामाजिकता प्रकट हो सकती है। समाज के सबसे संवेदनशील व्यक्ति की चेतन प्रक्रिया इन अभिव्यक्ति पद्धतियों से जुड़ी रहती है। लेखक के विवेक और संश्लेषण का यह अनुभव बिम्बों की रचना में सहायक होता है। विचार क्षेत्र एवं तत्त्व दर्शन की चर्चा में विचारों के वर्ण चित्र के प्रकट होने के अनुभव में बिम्बों की रचना प्रक्रिया तथा उनकी सामाजिकता के संदर्भ आवश्यक होते हैं।

बिम्बों की रचना प्रक्रिया का प्रगतिशील विचारों की दृष्टि से और प्रकृति एवं मनोविज्ञान तक सीमित रखने वाली दृष्टि से विचार जगत् में अन्तर पड़ जाना समझा जा सकता है। क्योंकि दोनों के दार्शनिक पक्ष पृथक् पड़ते हैं। सामा-

1. इन्द्रधनु रौंदे हुए–पृ. 57
2. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता – पृ. 139
3. कविता पर एक वक्तव्य–धूमिल (नया प्रतीक-78)–पृ. 4

जिक स्थिति के विषम होने पर बिम्ब अनावश्यक भार सा प्रतीत होगा। साथ में बिम्बों की पहचान के लिए अधिक संस्कृत और सहृदय वर्ग की भी आवश्यकता पड़ती है। तीसरा यह भी अनुभव किया जाता है कि बिम्ब नये एवं संघर्षशील परिवेश तथा संदर्भ को लेकर उभरते हैं। फलत: सामाजिक यथार्थ की जटिलता को यों ही बनाए रखना पड़ता है। इसलिये कहते हैं कि बिम्बधर्मिता निरर्थक है, भले ही उससे कवि का व्यक्तित्व मुखरित होता हो, वस्तु जगत के साथ लेखक का सम्बन्ध प्रकट हो या ऐन्द्रिय चेतना को बृहत्तर यथार्थ के साथ संपृक्त होता हो और मानवीय संवेदना को व्यापक बनाता हो। शिल्प की इन वास्तविकता के रहते हुये भी बिम्बधर्मिता का वैचारिक संघर्ष, शिल्प के आगे कुछ व्यापक है। प्रगतिशील कविता के प्रयुक्त बिम्ब जन साधारण के जीवन के यथार्थ को उभारने वाले हों और समकालीन संकट व यथार्थ का बोध करा सकें जबकि मनोविज्ञान से सम्बन्धित बिम्ब कुण्ठामय, रहस्यमय, आत्ममय ऐन्द्रिकता के संस्पर्श से सम्बन्ध रखते हैं। व्यक्ति के उत्थान, गौरव, अस्पष्ट अनुभूति या संवेदना प्रधान या भाव दशा की अभिव्यक्ति जैसे व्यापारों को प्रतिष्ठापित करने में बिम्ब सफल हो सकते हैं।

प्रगतिशील कविता के प्रयुक्त बिम्ब अपने विचारों के कारण वस्तु जीवन के विभिन्न पक्षों, अंतर्विरोधों सामाजिक समस्याओं, जीवन के यथार्थ की विफलताओं, विकृत रूपों जैसे को उजागर करते हैं। विशेषता यह है कि वस्तु बिम्बों को वस्तु के विचारित रूप के अनुकूल समग्र संघर्षशील रूप का विचार विभ्रम की अनिश्चितता, विचार के बिखराव एवं अन्य यथार्थ की विविध रेखाओं को समेटना पड़ता है। इसलिये प्रतीक या बिम्ब प्रगतिशील लेखक के लिये वहीं तक उपयोगी हैं जहाँ तक उसके तर्क, बौद्धिकता और विवेक को जागृत करने में सहयोग दे सकते हों।

स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु कविता : बिम्बवाद

पहले कविता में विषय का महत्त्व होता था। विषय की उत्कृष्टता से विचार की उत्कृष्टता की सम्भावना बनी रहती थी। परन्तु अब विषय के सही संप्रेषण के लिए सही अभिव्यक्ति की पद्धति पर बल दिया जा रहा है। इसी क्रम में बिम्बों का प्रवेश हुआ है। छन्द के प्रचलन के उठ जाने के बाद बिम्ब ही कविता की संरचना का आधार हो गया है। बिम्ब कविता की अर्थ प्रक्रिया का आधार तो है ही। लेकिन यह भी सही है कि मात्र बिम्बों से कविता नहीं बन सकती चाहे बिम्ब कितने भी सुन्दर प्रामाणिक हों। कवि की मौलिक प्रतिभा को बिम्ब तभी सार्थक बनायेंगे। जब वे किसी प्रबल भाव या विचारों से अनुप्राणित हों। कविता में प्रयुक्त बिम्ब व्यक्ति से जितना सम्बन्ध रखता है उतना ही परिवेश

से भी रखता है। और परिवेश के बदलने से बिम्ब के स्वरूप में परिवर्तन की पूरी सम्भावना होती है। वस्तुत: कविता में बिम्बों का अत्याधिक महत्त्व है। बिम्ब का स्थान रूपवाद एवं कलावाद के भीतर भी है और वस्तुवाद के भीतर भी है। भेद बिम्ब के चरित्र की सूक्ष्म प्रतीति से समझा जा सकता है। वास्तव में बिम्ब अनुभव का आधार है। कवि की संवेदनाओं के संप्रेषण में बिम्ब संवाहक है। स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु कवियों ने बिम्बों का प्रयोग जीवन के यथार्थ तथा समकालीन स्थिति के संकट को चित्रित करने के लिये किया है। नये-नये बिम्बों का आविष्कार हुआ है। अत: निम्न कविताओं में आधुनिक जीवन की वास्तविकता से सम्बन्धित बिम्ब परिलक्षित हैं –

"मोबत्तियाँ बुझ गयीं
क्लोरोफार्म-सा अंधेरा छा गया
जगत् ने अपना मरण पत्र लिख लिया,
विदूषक ने आत्मघात कर लिया।
× × ×
विदूषक का विषाद
सागर में बड़वाग्नि है
भूचाल में फ्रूट-सलाड,
लेकिन
मोमबत्तियाँ फिर जल उठीं
मरण-पत्र जल गया।"[1]
(अनु. डॉ. पी. आदेश्वर राव)

तम के दो पहाड़ों के बीच काल प्रवाह पर आलोक पुल बनाने की कवि की यह कल्पना सुन्दर है –

"तम के दो पहाड़ों के बीच
भर पूर काल-प्रवाह पर
किसने बनाया यह आलोक पुल
किसे इतनी चिन्ता है पथिकों पर।"[2]
(अनु. एम. रंगय्या)

"विषमतापूर्ण जीवन के नीम शाखा पर बैठ तोते का मधुर गान" का यह चित्र कवि की नवीन दृष्टि का ही परिचय है –

"कटु जीवन के नीम - शाख पर
बैठे तोते को मधुर बोलने दे

1. खड्ग सृष्टि – श्री. श्री. – पृ. 54
2. नदी ने मुझसे कहा था–डॉ. दाशरथी, पृ. 14

भले ही कोयल हो हमसे ओझल
पर कूक उसकी सुनाई दे।"[1]
(अनु एम. रंगय्या)

आरुद्र की निम्न कविता इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है –

"विवरों के सियार नहीं
तल हटियों में छिपे भेड़िये नहीं
नगर के पापी
मानों व्याघ्र चर्म से सज्जित गाएँ हैं।"[2]
(अनु. आचार्य भीम सेन निर्मल)

नगर जीवन की विभीषिकाओं का चित्रण नवीन बिम्ब तथा संकेतों के सहारे किया गया है।

"जो तुमने कहा वह झूठ नहीं
इस देश का हर शहर
रिसता हुआ बड़ा घाव है
दूर से वह है लाल गुलाब
पास से दिखेगा रक्त से लथपथ।"

इस प्रकार प्रगतिशील कविता में प्रयुक्त बिम्ब आधुनिक युग के विषमतापूर्ण जीवन के यथार्थों से साक्षात्कार करते हैं।

व्यक्तिवादी अंतर्मुखी चेतना से प्रभावित कवियों की कविताओं में प्रयुक्त बिम्ब भी दृष्टव्य हैं –

"आगामी आशाओं के वर्षा-नभ पर
वह देखो आनन्द का इन्द्रधनुष।"[3]
तथा
"इतनी रात में गान यह किसका है
अँधेरे कागज पर जो प्लाटिनमतान-सा चमक रहा है
अगोचर विषाद हर्ष-भय बाँट रहा है।"[4]

---

1. नदी ने मुझसे कहा–डॉ. दाशरथी, पृ. 55
2. दिगम्बर कवुलु–पृ. 51
3. आगमि आशल वर्षा गगनम मीद
अदिगो आनन्दम अने इन्द्रधनस्सु –अमृतम कुरिसिन रात्रि -तिलक, पृ. 94
4. इंत रात्रि वेल ई गानम एवरिदो
चीकटि कागितम मीद प्लाटिनम तीग लागा मेरुस्तुंदि
एदो विषादानि हायिनि भयानि पंचि पेडुतुंदि
– अमृतम कुरिसिन रात्रि – तिलक – पृ. 78

स्वातंत्र्योत्तर तेलुगु कविता में आरुद्र की कविता छोड़कर प्रतीकवाद और बिम्बवाद आन्दोलन के रूप में प्रचलित नहीं हुये। आरुद्र की कविता प्रतीकवाद से प्रभावित अवश्य हुई है पर उसकी जड़ें, यथार्थ में ही हैं। यह बात सही है कि जिस रचना में बौद्धिकता का अधिक प्रभाव है उसमें दुरूहता पैदा हुई है।

निष्कर्ष

विचार की उत्कृष्टता को सम्भव बनाने के लिए अर्थ प्रक्रिया का आधार आवश्यक होता है। व्यक्ति और परिवेश दोनों का भी अर्थ प्रक्रिया के निर्माण में योग बना रहता है। चाहे वह संघर्ष मूलक क्यों न हो। अर्थ परिवर्तन के द्वारा अनुभवों को आधार देकर और संवेदनाओं को संवाहन का अधिकार देकर विचार की सूक्ष्म प्रतीति देने वाला अंश वह बिम्ब के नाम से पहचाना जाता है। इसलिए नये-नये बिम्बों का आविष्कार जीवन के यथार्थ और समकालीन स्थिति के संकट को मानवीय अर्थ देने में आधुनिक कवियों ने बिम्ब का आश्रय लिया है। श्री. श्री. दाशरथी, आरुद्र, और दिगम्बर कवियों ने अपने लक्ष्यों की दृष्टि से आधुनिक वास्तविकता को उरेखित करने के लिए बिम्बों का प्रयोग किया है। आधुनिक युग के विषमता पूर्ण जीवन यथार्थों को साक्षात्कार कराने में बिम्बों की बौद्धिकता और अर्थक्षमता भुलाई नहीं जा सकती है। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए तेलुगु में वह आन्दोलन का रूप नहीं अपना सका है।

तुलनात्मक निष्कर्ष

हिन्दी और तेलुगु की स्वातंत्र्योत्तर कविता में बिम्बवाद का प्रभाव कविता की सामाजिकता को प्रामाणित करने, उसकी चेतन प्रक्रिया को एक पद्धति का रूप देने में तथा वैचारिक उत्कृष्टता को सम्भव बनाने में उपयोगी माना गया है।

हिन्दी में बिम्ब धर्मिता को वैचारिक संघर्ष का रूप प्रदान किया गया है। वह शिल्प के आगे कुछ व्यापक है। प्रगतिशील कविता और व्यक्तिवादी कविता में प्रयुक्त बिम्बों में वैचारिक संघर्ष होता है। जहाँ पर प्रगतिशील कविता में प्रयुक्त बिम्ब वस्तु के विचारित रूप के अनुकूल समग्र संघर्षशील रूप का अनयन करते हैं और तर्क, बौद्धिकता एवं विवेक को जागृत करने में सहयोग देते हैं। वहीं पर व्यक्तिवादी कविता में प्रयुक्त बिम्ब व्यक्ति के उत्थान या भाव दशा जैसे व्यापारों को प्रतिष्ठापित करते हैं।

हिन्दी में एक त ह से बिम्ब आन्दोलन का रूप अपना सका है। जबकि तेलुगु में सामाजिकता के विचार प्रबल रहने के कारण वह शिल्प की सीमा में बँधा हुआ है। विचारों की सूक्ष्म प्रतीति और व्यक्ति एवं परिवेश की अर्थ प्रक्रिया के निर्माण में तेलुगु कविताओं में बिम्ब प्रयोगों का बेटूट योगदान रहा है।

परिशिष्ट

संदर्भ एवं सहायक ग्रंथ सूची

हिन्दी :-

1. अकविता–श्याम परमार, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर
2. अकेले कंठ की पुकार–अजितकुमार, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1958
3. अज्ञेय की कविता–चन्द्रकांत वांदिवडेकर, इलाहाबाद, 1971
4. अज्ञेय एक अध्ययन–भोला भाई पटेल, गुजराती युनिवर्सिटी, अहमदाबाद–1983
5. अरी ओ करुणा प्रभामय–अज्ञेय, भारतीय ज्ञान पीठ दिल्ली-1959
6. आस्तित्ववाद–किर्कगार्द से कामू तक–योगेन्द्र शाही, मैकमिलन, दिल्ली-1975
7. अस्तित्ववाद दार्शनिक तथा साहित्यिक भूमिका–लालचन्द्र गुप्त, संजीव प्रकाशन, कुरूक्षेत्र, 1983
8. आत्म निर्वासन–राजीव सक्सेना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1966
9. आत्महत्या के विरुद्ध–रघुवीर सहाय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–1967
10. आवाजों के घेरे–दुष्यंतकुमार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1963
11. आधुनिक परिवेश और नवलेखन–शिवदान सिंह, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
12. आधुनिकता बोध और तेलुगु काव्यधारा के संदर्भ–डा. आर. श्री सर्राजु, सीता प्रकाशन, हाथरस (1989)
13. आधुनिक भारत के सामाजिक परिवर्तन–एम. एन. श्री निवास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली–1967
14. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां–नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद–1983
15 आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान–केदार नाथ सिंह, भारती ज्ञान प्रकाशन–1971
16. आधुनिक हिन्दी कविता में मनोविज्ञान–उर्वशी ज सूरती, अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर–1966
17. आधुनिक हिन्दी नाटकों में नायक–श्याम शर्मा, अभिनव प्रकाशन, नई दिल्ली–1978

18. आलबाल–अज्ञेय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–1971
19. आलोचना और आलोचना–इन्द्रनाथ मदान, इलाहाबाद–1971
20. आलोचना की रचना यात्रा–धनंजय वर्मा, विद्या प्रकाशन, दिल्ली–1978
21. इतिहास और आलोचना–नामवरसिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-1957
22. इत्यलक–अज्ञेय, प्रतीक प्रकाशन, दिल्ली
23. इन्द्र धनु रौंदे हुए–अज्ञेय,सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद–1957
24. उग्रवादी कम्युनिजम : एक बचकाना मर्ज–लेनिन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली–1973
25. उस जनपद का कवि हूँ–त्रिलोचन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली–1981
26. कनुप्रिया–धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन–1959
27. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र–मार्क्स एंगेल्स, प्रगति प्रकाशन, मास्को
28. कल सुनना मुझे–धूमिल, युगबोध प्रकाशन, वाराणसी–1977
29. कला और बूढ़ा चाँद–पंत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली–1956
30. कला के वैचारिक और सौंदर्यात्मक पहलू-आव्नेर जीस, रादुगा प्रकाशन, मास्को
31. कला, साहित्य और संस्कृति–माओ त्सेतुंग, पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली-1983
32. कला, साहित्य और संस्कृति–इ. एम. एस. नम्बूदिरिपाद, पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली–1982
33. कविता और कविता–इन्द्रनाथ मदान, साहित्य सहकार, दिल्ली–1989
34. कविता के नए प्रतिमान–नामवरसिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली–1968
35. कविताएँ (एक एवं दो)–सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1978
36. कवि की दृष्टि–भारतभूषण अग्रवाल, मैकमिलन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1978
37. कविता और संघर्ष चेतना–यश. गुलाटी, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली–1
38. कहे केदार खरी-खरी–केदारनाथ अग्रवाल, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद–1983
39. काव्य-बिम्ब–डा. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-1967
40. कितनी नावों में कितनी बार–अज्ञेय, भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली–1967
41. कुछ कविताएँ व कुछ और कविताएँ–शमशेर बहादुर सिंह, राधाकृष्ण प्रकाश, नई दिल्ली–1984
42. क्योंकि मैं उसे जानता हूँ–अज्ञेय, भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली–1970
43 चाँद का मुँह टेढ़ा है–मुक्तिबोध, गजानन माधव, भारतीय प्रकाशन-1964
44. चिंतामणि–रामचन्द्र शुक्ल, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद–1977
45. चुनी हुई कविताएँ-अज्ञेय, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली–1987
46. चुनी हुई रचनायें–भाग 2–नागार्जुन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–1985

47. जंगल का दर्द–सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, नई दिल्ली–1976
48. जनता का नया साहित्य–चाऊ एन लाई, पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली–1983
49. जनवादी साहित्य के दस वर्ष–लेखक शिविर, जनवादी विचार मंच, दिल्ली विश्व विद्यालय, दिल्ली–1978
50 जमीन पक रही है–केदार नाथ सिंह, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली–1980
51. तार सप्तक–सं.अज्ञेय, प्रतीक प्रकाशन, दिल्ली–1943
52 तीसरा सप्तक–सं.अज्ञेय, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी–1959
53. तेलुगु साहित्य परिमल–डा. भीमसेन निर्मल, दक्षिण आँचलीय साहित्य समिति, हैदराबाद–1991
54. दर्शन, साहित्य और समाज–शिवकुमार मिश्र, पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली-1981
55. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास–लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, राजपाल, दिल्ली, 1982
56. दूसरा सप्तक–सं. अज्ञेय, प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली, 1951
57. धूमिल की कविता की क्रान्तिकारी चेतना–वी. कृष्णा, अप्रकाशित लघुशोध प्रबन्ध, जे. एन. यू., नई दिल्ली, 1987
58. धरती–त्रिलोचन, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद–1
59. नदी ने मुझसे कहा–डा. दाशरथी (अनुवाद–एम. रंगय्या) महान्ध्र प्रकाशन, हैदराबाद, 1984
60. नयी कविता–नन्द दुलारे वाजपेयी, मैकमिलन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1976
61. नयी कविता की चेतना–जगदीश कुमार, दिल्ली, 1972
62. नया काव्य-नये मूल्य–ललित शुक्ल, मैकमिलन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1975
63. नयी कविता–जगदीश गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1966-67
64. नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध–मुक्तिबोध, गजानन माधव, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, 1977
65. नयी कविता का वैचारिक आधार–सुधीश पचौरी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987
66. नयी कविता की पहचान–राजेन्द्र मिश्र, वाणी प्रकाशन, दिल्ली
67. नयी कविता के प्रतिमान–लक्ष्मीकान्त वर्मा, भारती प्रेस, इलाहाबाद
68. नयी कविता और अस्तित्ववाद–रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1978
69. नयी कविता सीमाएँ और संभावनाएँ–गिरिजाकुमार माथुर, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली–1966

70. नयी कविता की भूमिका–प्रेमशंकर, नेशनल पब्लिसिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1988
71. नये प्रतिनिधि कवि–हरिचरण शर्मा, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1984
72. नये साहित्य का सौंदर्य शास्त्र–मुक्तिबोध गजानन माधव, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, 1971
73. परिवेश हम तुम–कुँवर नारायण, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1961
74. पाश्चात्य काव्य शास्त्र–सं० माखनलाल शर्मा, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्व विद्यालय, दिल्ली
75. प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन–हंसराज रहबर, विभूति प्रकाशन. दिल्ली, 1987
76. प्रगतिशील कविता में सौंदर्य मूल्य–अजय तिवारी, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद-1
77. प्रतिनिधि कविताएँ–त्रिलोचन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985
78. प्रथम और अन्तिम मुक्ति–जे. कृष्णमूर्ति, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली
79. प्रसंग वश - भारत भूषण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1970
80. फिलहाल - अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1970
81. फूल नहीं रंग बोलते हैं–केदारनाथ अग्रवाल, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद-1977
82. बन पाखी सुनो–नरेश मेहता, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1982
83. भारतीय चिंतन परंपरा–के. दामोदरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई-दिल्ली, 1979
84. भूरी-भूरी खाक धूल - मुक्तिबोध गजानन माधव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980
85. मार्क्सवाद और कविता - जार्ज थामसन, चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1985
86. मार्क्सवादी दर्शन - वि. अफना स्येव, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1967
87. मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य - रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984
88 मार्क्सवाद और हिन्दी उपन्यास–एन. रवीन्द्र नाथ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली-1
89. मायादर्पण - श्रीकान्त वर्मा, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, कलकत्ता, 1967
90. मुक्तिबोध रचनावली भाग–1,2,3,5,–मुक्तिबोध गजानन माधव (अजिल्द) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985
91. राजनीति कोश - सुभाश कश्यप और विश्वगुप्त, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1971

92. विचाधारा और साहित्य - अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984
93. संसद से सड़क तक–धूमिल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1972
94. समकालीन कविता : वैचारिक आयाम–बलदेव वंशी, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, 1966
95. समकालीन कविता का परिप्रेक्ष्य - मदन गुलाटी, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, 1984
96. समकालीन काव्य की प्रगतिवादी चेतना–एम. रंगय्या, हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ, 1985
97. समकालीन भारत सर्वग्रासी संकट - ई. एम. एस. नंबूदिरिपाद, नेशनल बुक सेंटर, नई दिल्ली, 1981
98. समकालीन सिद्धान्त और साहित्य - विश्वंभर नाथ उपाध्याय, मैकमिलन प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1976
99. समकालीन हिन्दी कविता - विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1982
100. सात गीत वर्ष–धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1959
101. साहित्य और कला - भगवतचरण उपाध्याय, आत्माराम, दिल्ली, 1960
102. साहित्य तथा कला–मार्क्स : एंगेल्स, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981
103. साहित्य सिद्धान्त - रेनेवेलेक आस्तिन वारेन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1
104. साहित्यानुशीलन–शिवदान सिंह चौहान, आत्माराम, दिल्ली, 1955
105. साहित्य और राजनीति–कुँवरपाल सिंह, भाषा प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981
106 सीढ़ियों पर धूप के–रघुवीर सहाय, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, 1960
107. सुदामा पाण्डेय का प्रजातंत्र - धूमिल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1984
108. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता - अनंत मिश्र, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 1987
109. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी और गुजराती नयी कविता - मंजु सिन्हा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1973
110. हँसो हँसो जल्दी हँसो–रघुवीर सहाय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1987
111. हरी घास पर क्षण भर–अज्ञेय, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली, 1949
112. हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ–प्रभाकर माचवे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1858

113. हिन्दी विश्व कोश - धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञान मंडल प्रकाशन, वाराणसी, (संवत 2020)
114. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य - अज्ञेय, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1967
115. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
116. हिन्दी साहित्य में चिन्तन प्रवाह - गोकाकर एवं कुलकर्णी, फडके बुक सेलर्स, कोल्हापुर, 1976

तेलुगु :–

117. अनंतम - श्री. श्री. विरसक प्रचुरण, 1986
118. अभ्युदय यावै ऐल्ल अभ्युदय साहित्योद्यम पत्रालु - सं. ऐट्कूरि प्रसाद, अरसम, हैदराबाद, 1938
119. अमृतम कुरिसिन रात्रि - देवर कोंड बाल गंगाधर तिलक, विशालान्ध्र पब्लिशिंग हाउस, हैदराबाद, 1968
120. आधुनिक महाभारत - शेषेन्द्रकृति, श्री शेषेन्द्र साहित्य पाठम, हैदराबाद, 1985
121. आधुनिकान्ध्र कविता समीक्षा - के. वी. आर. नरसिंहम, गंगाधर पब्लिकेशन्स, विजयवाड़ा, 1982
122. आधुनिकान्ध्र कवित्वमु : सांप्रदायुमुलु: प्रयोगमुलु - सी. नारायण रेड्डी, आंध्रप्रदेश बुक डिस्ट्रिबूटर्स, सिकन्दराबाद, 1967
123. आधुनिक तेलुगु साहित्यम लो विभिन्न धोरणुलु - सं. के.के रंगनाथाचार्युलु, आन्ध्र सारस्वत परिषद, हैदराबाद, 1982
124. उद्यमम नेल बालुडु - शिवसागर, सृजन प्रचुरणलु, हनुमकोंड, 1983
125. ओटमि-तिरुगुबाटु - ज्वालामुखी, नवयुग पब्लिशर्स, हैदराबाद, 1972
126. कवित्वम गतितार्किकता - जेसी सृजन प्रचुरणलु, हैदराबाद 1991
127. कत्तिपाट - चेरबंड राजु, विप्लव रचयितल संघम, 1983
128. कवि जी आरुद्र - संपादक एवं अनुवादक डा. भीमसेन निर्मल, सेतु प्रकाशन झांसी (संवत् 2026)
129. खड्गसृष्टि–श्री श्री. विशालान्ध्र पब्लिशिंग हाउस, विजयवाड़ा, 1966
130. तिलक लेखलु–तिलक साहिति सरोवरम, शशिधर हिन्दी प्रेमी मंडली, तणुकु, 1968
131. तेलुगु की नयी कविता–डा. पी. आदेश्वर राव, सहयोग प्रकाशन, विजयवाड़ा, 1971

132. तेलुगु कविता विकासम–के. राममोहन राय, आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी, हैदराबाद, 1982
133. तेलुगु लो कविता विप्लवाला स्वरूपम–के. नारायण राव, हैदराबाद बुक ट्रस्ट, हैदराबाद, 1987
134. त्वमेवाहम–आरुद्र, विशालान्ध्र पब्लिशिंग हाउस, विजयवाड़ा, 1981
135. दाशरथी कविता–दाशरथी, महान्ध्र प्रचुरणलु, मद्रास, 1977
136. दिगम्बर कवुलु–तीन काव्य संकलनों का संग्रह, एम. शेशाचलम एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1971
137. ना देशम ना प्रजलु–गुन्टूरु शेषेन्द्र शर्मा, इण्डियन लांग्वजेस फोरम, हैदराबाद. 1975
138, नूतिलो गोंतुकलु–बैरागी, ऐ. बी. सी. प्रचुरणलु, हैदराबाद, 1978
139. मंटलू-मानवुडु–सी. नारायण रेड्डी, आन्ध्र प्रदेश बुक डिस्ट्रिब्यूटर्स सिकन्दराबाद, 1970
140 मरो प्रस्थानम–श्री. श्री., विरसम प्रचुरण, 1989
141. महति–सं. जी. वी. सुब्रह्मण्यम, युभारति प्रकाशन, सिकन्दराबाद, 1972
142. रुधिर ज्योति–श्रीरंगम नारायण बाबू, नवोदय पब्लिशर्स, विजयवाड़ा-1972
143. विषाद भारतम–सी. विजय लक्ष्मी, अभ्युदय साहिती प्रचुरण, विजयवाड़ा, 1965
144. वी तेलंगाना विप्लव पोराटम गुणपाटालु–पी. सुन्दरैय्या, नवशक्ति प्रचुरणलु, विजयवाड़ा, 1973
145. वज्रायुधम–सोम सुन्दर, विशालान्ध्र पब्लिशिंग हाउस, हैदराबाद, 1956
146. साहित्य तत्वम–आर. वी. आर., विशालान्ध्र पब्लिशिंग हाउस, हैदराबाद, 1988
147. सारस्वत विवेचन–राचमल्लु रामचन्द्रा रेड्डी, विशालान्ध्र पब्लिसिंग हाउस, हैदराबाद, 1976
148. साहित्यम लो विप्लवोद्यमम–कोडवगंटि कुटुंबराव, सृजना प्रचुरणलु, वरंगल, 1971
149. साहित्य विमर्श-परामर्श–चेकूटि रामाराव, चरित प्रचुरणलु, हैदराबाद, 1991
150. सिनीवाली–आरुद्र, विशालान्ध्र पब्लिशिंग हाउस, हैदराबाद, 1987
151. स्वेच्छा–वर वर राव, युग प्रचुरणलु, हैदराबाद, 1978

ENGLISH :

1. Being and Nothingness-Sartre J. P. Translated by Heal E Barnes, Lonon Methuen (1976)
2. Dialectical Materialism-Maurice Carnforth (1971) National Book Agency, Calcutta-12
3. Existentialism and Humanism–Sartre J. P. London, Eyne Methuen (1977)

4. The Geman Ideology–Marx Engels, progress Publishers, mosoow (1976)
5. Illusion and Reality–Christopher caudwell, people's publishing House, New Delhi (1956)
6. Maxist cultural movement in Ind a–Chronicles and documents Vol. III, sudhi pradhan (1985) pustak Bipan, calcutta.
7. The Poetic Image–C. day Lewis, jonathan cape, thirty bedgord square, London
8. Politics and Literature–Sartre, London. methuen (1950)
9. Psycho Analysis–Freud sigmand, penguin, (1977)
10. Selected works–Karl marx Vol. I progressive publishers, mosco, (1976)

पत्र-पत्रिकायें

हिन्दी :

1. अकविता–1968
2. आवेद, 1968
3. आलोचना, अप्रैल 1953,
4. आलोचना, जुलाई-सितम्बर, 1968
5. आलोचना, पूर्णांक 50/66
6. आलोचना, अप्रैल–जून, 1970
7. आलोचना, दिसम्बर, 1970
8. आलोचना, जनवरी–मार्च, 1979
9 इन्द्रप्रस्थ भारती, अप्रैल–जून, 1991
10. ज्ञानोदय–अगस्त, 1963
11. ज्ञानोदय–नवम्बर, 1966
12. नयी कविता (विशेषांक)
13 नयी कविता अंक 4
14. पहला 10–11
15. माध्यम–सितम्बर, 1965
16. युग परिबोध, दिसम्बर, 1976
17. युग परिबोध, जनवरी–मई, 1977
18. रूपाभ, वर्ष 1, संख्या 1, 1988

तेलुगु :

1. आन्ध्रप्रभा (दैनिक), फरवरी 4, 1991
2. कलाकेली, अंक 4, नवम्बर, 1968
3. कलाकेली, अंक 6, जनवरी, 1969
4. नवत, अंक 3, अप्रैल, 1963
5. महति
6. सृजना, फरवरी, 1970
7. सृजना, अक्तूबर, 1980